साहित्यकार की आस्था
तथा
अन्य निबंध

साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध

महादेवी

चयन : गंगाप्रसाद पाण्डेय

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोक हित-तन्त्री सँभाले
सिन्धु लहरों पर अधिश्रित,
वह चला कवि क्रान्तदर्शी
सब दिशाओं में अबाधित !

—साम पूर्वाचिक ५-१०

अनुक्रम

विज्ञप्ति

●

छायावाद युग ने नये काव्य की सृष्टि के साथ एक नये काव्य-चिंतन की, नये काव्य-शास्त्र की, नये काव्यालोचन की भी नीव रखी, तो यह स्वाभाविक ही था। समालोचना की इस प्राणवन्त प्रणाली मे, अनुभव से परिपुष्ट इस चिंतन मे पाठको को शिक्षित करने के साथ एक नये काव्य-सिद्धान्त की स्थापना का भी उद्देश्य रहा हो तो आश्चर्य की बात नही। जीर्ण-शीर्ण परम्परा से आवद्ध ह्रासोन्मुख-युग मे कवि, जब पाठको की रसज्ञता के प्रति आश्वस्त नही रहता तब उसके लिए काव्य के स्पष्टीकरण की विवशता अनिवार्य हो उठती है।

कवि समालोचक की दृष्टि मे काव्य-सृष्टि के प्रति एक प्रत्यक्ष-साक्ष्य की स्पष्टता और तत्परता तो होती है, सृजन के विभिन्न और विविध तत्वो से परिचित होने के नाते उसकी मान्यताओ का बोधगम्य और विश्वसनीय होना भी सहज होता है। स्वय कवि के स्वानुभूत मार्मिक स्पदनो से मुखरित होने के कारण उसकी विवेचना अपनी प्रेषणीयता और प्रभविष्णुता मे भी अमोघ रहती है।

छायावादी कवियो ने अपनी विस्तृत भूमिका मे तथा वक्तव्यों और विज्ञप्तियो द्वारा अपने काव्यात्मक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने की सफल और सार्थक चेष्टाएँ की हैं। महादेवी जी ने ऐसी भूमिकाएँ लिखी हैं, जो छायावाद-युग मात्र की भूमिकाएँ मानी जा सकती हैं। वस्तुतः वे छायावाद की सबसे समर्थ समालोचक है। उनकी सबसे बडी विशेपता निस्सगता और काव्य को जीवन की विशाल भूमि पर रखकर परखने की क्षमता है। भारतीय साहित्य के अध्ययन-मनन से प्राप्त पुरानी कसौटी तो उनके पास है ही, आवश्यकता के अनुसार युगानुरूप नवीन कसौटी गढ लेने की सर्जनात्मक शक्ति का भी उनमे प्राचुर्य है। यही कारण है कि उनकी विवेचना शास्त्रज्ञ आचार्य की कठोर

बौद्धिक रेखाओं से घिरी न हो कर जीवन को गतिशील करने वाली भावना प्रपात की तरह तरल स्वच्छ और शान्त प्रसरणशील है।

बाह्य जीवन की स्थूलता और अन्तर्जगत की सूक्ष्मता के व्यापक अनुभव चिंतन और मनन से प्राप्त सत्य, शिव और सौन्दर्य के पक्ष पर समालोचक के पूर्व निर्मित सिद्धान्तों और परम्परापोषित विचारों को चुनौती देते हुए काव्य के सच्चे मापदण्ड स्वयं कवि की रचनाओं से ही खोजने का उन्होंने जो उचित आग्रह किया है, वह समालोचना के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन के साथ काव्यालोचन की नयी प्रणाली का भी स्वस्थ सूत्रपात करता है। हिन्दी समीक्षा के स्वरूप में उनकी इस मौलिक देन का ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण रहेगा, इसमें सन्देह नहीं।

यदि पुरानी काव्य-लीक के प्रेमी और छायावाद के अकारण विरोधी तथा कथित आलोचकों ने उनकी गवेषणात्मक विवेचना का अध्ययन किया होता तो उनकी आलोचना की वह हास्यास्पद स्थिति न हुई होती जो सबके सामने प्रत्यक्ष है।

महादेवी जी की समीक्षा की मुख्य कसौटी अनुभूति विचार और कल्पना से समन्वित उनका जीवन दर्शन है जो समीक्षा की प्रगति के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। उनकी मान्यता है—किसी मानव समूह को उसके समस्त परिवेश के साथ तत्वत जानने के लिए जितने माध्यम उपलब्ध हैं उनमें सबसे पूर्ण और मधुर उसका साहित्य ही कहा जायगा। साहित्य में मनुष्य का असीम, अनन्त अपरिचित और दुर्बोध जान पड़ने वाला अन्तर्जगत बाह्य जगत में अवतरित होकर निश्चित परिधि तथा सरल स्पष्टता में बँध जाता है तथा सीमित अत चिर परिचय के कारण पुराना लगने वाला बाह्य जगत अन्तर्जगत के विस्तार में मुक्त होकर चिर नवीन रहस्यमयता पा लेता है। इसी प्रकार हम सीमा में असीम की और असीम में सभावित सीमा की अनुभूति युगपद् होने लगती है। दूसरे शब्दों में हम कुछ क्षणों में असख्य अनुभूतियों और विराट प्राण के साथ जीवित रहते हैं जो स्थिति हमारे शान्त जीवन को अनन्त जीवन से एकाकार कर उसे विशेष सार्थकता और सामान्य गन्तव्य देने की क्षमता रखती है। प्रवाह में बनने मिटने वाली लहरें नव नव रूप पाती हुई लक्ष्य की ओर बढ़ती रहती है परन्तु प्रवाह से भटककर अकेले तट से टकराने और बिखर जाने वाली तरंग की यात्रा वहीं बालू मिट्टी में समाप्त हो जाती है। साहित्य हमारे जीवन को ऐसे एकाकी अत से बचाकर उसे जीवन के निरन्तर गतिशील प्रवाह में मिलाने का सम्बल देता है।

'धरती के प्रत्येक कोने और काल के प्रत्येक प्रहर मे मनुष्य का हृदय किसी उन्नत स्थिति के भी पाषाणीकरण को अभिशाप मानता रहा है। इस स्थिति से बचने के लिए उसने जितने प्रयत्न किए हैं, उनमे साहित्य उसका निरन्तर साक्षी रहा है।'

...

'दर्शन पूर्ण होने का दावा कर सकता है, धर्म अपने निर्भ्रान्त होने की घोषणा कर सकता है, परन्तु साहित्य मनुष्य की शक्ति-दुर्बलता, जय-पराजय, हास-अश्रु और जीवन-मृत्यु की कथा है। वह मनुष्य-रूप मे अवतरित होकर स्वयं ईश्वर को भी पूर्ण मानना अस्वीकार कर देता है। पर इस स्वेच्छा स्वीकृत अपूर्णता या परिवर्तनशीलता से जीवन और उसके विकास की एकता का सूत्र भग नही होता।'

...

'नदी के एक होने का कारण उसका पुरातन जल नही, नवीन तरग-भगिमा है। देश-विदेश के साहित्य के लिए भी यही सत्य है। प्रत्येक युग के साहित्य मे नवीन तरगाकुलता उसे मूल प्रवाहिनी से विच्छिन्न नही करती, वरन् उन्ही नवीन तरग-भगिमाओ की अनन्त आवृत्तियो के कारण मूल प्रवाहिनी अपने लक्ष्य तक पहुँचने की शक्ति पाती है।'

'इस दृष्टि से यदि हम भारतीय साहित्य की परीक्षा करें तो काल, स्थिति, जीवन, समाज, भाषा, धर्म आदि से सम्बन्ध रखने वाले अनन्त परिवर्तनो की भीड मे भी उसमे एक ऐसी तारतम्यता प्राप्त होगी जिसके अभाव मे किसी परिवर्तन की स्थिति सम्भव नही रहती। समुद्र की वेला मे जो धरती व्यक्त है उसी की अव्यक्त सत्ता तल बनकर समुद्र की अपार जलराशि को सँभालती है। समुद्र के जल का व्यवधान पार करने के लिए तट की धरती चाहिए और समुद्र को जल का व्यवधान बने रहने के लिए तल की धरती चाहिए। साहित्य के पुरातन और नूतन के अविच्छिन्न सम्बन्ध के मूल मे भी जीवन की ऐसी ही धरती है।'

...

'सत्य निर्मित नही' किया जाता, उसे साधना से उपलब्ध किया जाता है, यह आज भी प्रमाणित है। वैदिक ऋषि भी अपनी अन्तश्चेतना मे जीवन के रहस्यमय सत्य की अनुभूति प्राप्त करता है और उसे शब्दायित करके दूसरो तक पहुँचाता है। यह सत्य उसके तर्क-वितर्क का परिणाम नही है, न वह इसका कर्तृत्व स्वीकार कर सकता है। जो नियम सृष्टि को सचालित करते हैं, ऋषि उनका द्रष्टा मात्र है। जीवन के अव्यक्त रहस्यो के सृजन का तो प्रश्न

ही क्या, जब जगत के भौतिक तत्वो की खोज करने वाला आज का वैज्ञानिक भी यह कहने का साहस नही करता कि वह भौतिक तत्वो का स्रष्टा है।

कवि या कलाकार को भी जीवन के किसी अन्तर्निहित सामजस्य और सत्य की प्रतीति इसी क्रम से होती है चाहे भाषा छन्द और अभिव्यक्ति पद्धति उसकी व्यक्तिगत हो। जल की एकता के कारण ही जैसे उसके एक अग मे उत्पन्न कम्पन दूसरी ओर तक पहुँच जाता है वैसे ही चेतना की अखण्ड व्याप्ति अपने ऋत रूप सत्य को भिन्न चेतना खण्डो के लिए सहज सम्भव कर देती है।

अपने इसी बोध विचार और जीवन दर्शन के आधार पर महादेवी जी ने काव्य कला के निवेचन विश्लेषण मे यह आप्त वाक्य लिखा है— सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता मे असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता मे अनत, इसी से साधन के परिचय स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मय भरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है। इस कथन मे उनकी काव्य सम्बन्धी धारणा स्पष्ट है। व्यक्त अनेकता मे अन्तर्निहित एकता की खोज करने वाले की आस्था सामजस्य और समन्वय पर ही आरूढ रहती है। साहित्यालोचन मे उनका दृष्टिकोण इसी पृष्ठाधार पर सस्थित है। उन्होने लिखा भी है—

जीवन को सब ओर से स्पर्श करने वाली दृष्टि मूलत और लक्ष्यत सामजस्यवादिनी होती है। साहित्य का आधार कभी आंशिक जीवन नही होता, सम्पूर्ण जीवन होता है। साहित्य मे मनुष्य की बुद्धि और भावना इस प्रकार मिल जाती है जैसे धूपछाँही वस्त्र मे दो रगो के तार अपनी अपनी भिन्नता के कारण ही अपने रगो से भिन्न एक तीसरे रग की सृष्टि करते हैं। हमारी मानसिक वृत्तियो की ऐसी सामजस्यपूर्ण एकता साहित्य के अतिरिक्त और कहा सम्भव नहा। उसके लिए न हमारा अन्तर्जगत त्याज्य है न बाह्य, क्योकि उसका विषय सम्पूर्ण जीवन है आंशिक नही।

मनुष्य के पास बाह्यजगत के समान एक सचेतन अन्तर्जगत भी है अत उसका सौन्दर्य-बोध दोहरा और अधिक रहस्यमय हो जाता है। वह केवल परिवेश के सामजस्य पर प्रसन्न नही होता वरन विचार भाव और उनसे प्रेरित कर्म की सामजस्यपूर्ण स्थिति पर भी मुग्ध होता है। उसके अन्तर्जगत का सामजस्य बाह्यजगत मे अपनी अभिव्यक्ति चाहता है और बाह्यजगत का सामजस्य अन्तर्जगत मे अपनी प्रतिच्छवि आँकना चाहता है।

साहित्य मे सम्पूर्ण तथा व्यापक जीवन की यह मांग उनकी विवेचना मे अत्यन्त सफलता के साथ प्रतिफलित हुई है। उनके सभी निर्णय निष्कर्ष इसी

अनुभूत जीवन-दर्शन, आस्था और विश्वास के परिणाम है। जिस प्रकार उनका काव्य जीवन के विराट भाव-बोध को जागृत करता है उसी प्रकार उनकी विवेचना अनुभूत बौद्धिक-चिंतन के उन्मेष को विस्तार देती है। व्यष्टि के अनुभव-चिंतन को समष्टि के साथ सयोजित करने के अन्य अनेक साधनो के साथ उनकी विधायक कल्पना का बहुत बडा महत्त्व है, क्योकि साहित्य मे मूर्त-विधान और सौन्दर्य बोध का माध्यम यही मानस व्यापार है।

वस्तुत. भाव, विचार और कल्पना की समन्वित त्रिवेणी से प्रसाधित तथा प्रवाहित उनकी समालोचना जीवन-भूमि को सब ओर से ससिक्त और स्निग्ध करती चलती है। उनकी मर्मभेदी, दूरदर्शी दृष्टि के सामने जीवन अपने परिपूर्ण व्यापकत्व और विराटत्व के साथ उपस्थित होकर विवेचना को गहनता और विस्तार के सूत्रो से ग्रथित करता चलता है।

छायावाद के प्रति फैले बहुमुखी भ्रामक विचारो और अबोधता से उद्भूत नाना भ्रमो के कुहासे को दूर करने मे उनकी विवेचना ने जिस किरण-कला का काम किया है, वह किसी से छिपा नही। श्री नामवर सिंह ने ठीक ही कहा है—'छायावाद सम्बन्धी सभी आलोचनाओ का उत्तर महादेवी जी को देना पडा। इसीलिए उन्होने बडे विस्तार से छायावाद मे प्रकृति, नारी भावना, कल्पना, दु खवाद, स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति, राष्ट्रीयता आदि का सोदाहरण विवेचन किया। कहना न होगा कि छायावाद सम्बन्धी भ्रमो का उच्छेद करने मे महादेवी जी ने सभी छायावादी कवियो से अधिक काम किया'। श्री विनय-मोहन शर्मा की यह उक्ति भी कि—'छायावाद-युग ने महादेवी को जन्म दिया और महादेवी ने छायावाद को जीवन', सच है। वास्तव मे छायावादी काव्य-धारा के सौन्दर्य-सवेदन को, उसकी सास्कृतिक समृद्धि को, तथा उसकी स्थिति की विवेचनात्मक दृढता को हृदय-स्पर्शी बनाकर सर्व-सुलभ स्पष्टता देने के भगीरथ विधान मे महादेवी जी की सफलता सहज ही अनन्य है, यह निर्विवाद है।

विशेषता यह है कि छायावाद की महत्त्वपूर्ण स्थापना और उसकी विस्तृत विवेचना के साथ उन्होने उसकी त्रुटियो की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है—'छायावाद के कवि को एक नये सौन्दर्य-लोक मे ही यह रागात्मक दृष्टिकोण मिला, जीवन मे नही, इसी से वह अपूर्ण है'। छायावाद की ऐसी आलोचना शायद ही और किसी ने की हो ?

प्रगतिवाद की मौलिक त्रुटियो का विश्लेषण करते हुए भी उन्होने कवियो को यही सलाह दी है—'अध्ययन मे मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर आकर, जड सिद्धान्तो का पाथेय छोड कर अपनी सम्पूर्ण सवेदन शक्ति के साथ

जीवन म पुन मिल जावें', क्योंकि उनका निश्चित विश्वास है—'हम निष्क्रिय बुद्धिवाद और स्पदनहीन वस्तुवाद के लम्बे पथ को पारकर कदाचित् फिर चिर सवदन रूप सक्रिय भावनाओं म जीवन के परिमाण खोजन होगे।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि महादेवी जी की विवेचना म साहित्य के निरलेपण के साथ-साथ उसम जीवन की सर्वाङ्गीण प्रतिष्ठा का आग्रह सर्वाधिक महत्ता रखता है। इसी से उसम बौद्धिक तीक्ष्णता के साथ भावात्मक सम्वेदण का स्वर बराबर गूजता चलता है जो साहित्य की सार्थकता और उपयोगिता का सबसे प्रौढ और सनातन प्रतीक है। ऐसी जीवनवादी, मानवतावादी समीक्षा का सृजनात्मक प्रभाव साहित्य के शाश्वत सिद्धान्तो की खोज म स्थायी रहता है इसम सन्देह नहीं। डा० नगेन्द्र ने बड़े पते की बात कही है— महादेवी के ये निबन्ध काव्य के शाश्वत सिद्धान्तो के अमर व्याख्यान हैं। आज साहित्यिक मूल्यों के बवण्डर म भटका हुआ जिज्ञासु इन्हें आकाश-स्तम्भ मानकर बहुत कुछ स्थिरता पा सकता है। अतएव साहित्य का विद्यार्थी उनकी विवेचना का आप्त वचन के समान ही आदर करेगा।

साहित्य भावात्मक सामजस्य का प्रथम और अन्तिम सत्य है इसीलिए उसकी स्थिति मनुष्य के लिए उसी प्रकार अनिवार्य है जैसे उसके हृदय की। स्वभावत साहित्य का माध्यम स्थूल विधि निषेध न होकर आन्तरिक सामजस्य ही होना है, तभी वह हृदय की भाँति जीवन के सभी अगो को अपनी नवीन रक्त सचारिणी शक्ति से जीवित तथा स्वस्थ रख सकेगा अन्यथा नहीं।

प्रस्तुत पुस्तक म महादेवी जी के आठ विवेचनात्मक निबध सगृहीत हैं— (१) साहित्यकार की आस्था (२) काव्य-कला (३) छायावाद (४) रहस्य वाद (५) गीति काव्य (६) यथार्थ और आदर्श (७) सामयिक समस्या (८) हमारे वज्ञानिक युग की समस्या।

इन निबन्धो म महादेवी जी की व्यापक तथा गहन अनुभूति समन्वयात्मक चिन्तन-मनन और सामजस्यपूर्ण जीवन दर्शन का जो उन्मेष उद्घाटित हुआ है वह जीवन और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्धो को स्पष्ट करने की अद्भुत क्षमता के साथ विवेचना के स्तर को ऊपर उठाने म भी सफल है। सिद्धान्तो को धो-माजकर चमाचम रखने वाले और जीवन म जग लग जाने देने वाले आलोचको के प्रति उनका कथन कितना मार्मिक है। आज का आलोचक 'मानसिक पूजीवाद और जीवन का दारिद्र्य साथ लाए बिना न रह सका। जीवन की ओर लौटने की पुकार उसकी ओर से नहीं आती क्योंकि ऐसी पुकार स्वय उसी के जीवन का विरोधात्मक बना देगी। व्यावहारिक धरातल पर भी वह एक अथक विवादपरता के

अतिरिक्त कोई निश्चित कसौटी नही दे सका जिस पर साहित्य और काव्य का खरा-खोटापन विश्वास के साथ परखा जा सके।

छायावादी काव्य के पूर्व हिन्दी आलोचना का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी आदि आलोचक यही निर्णय नही कर पाए थे कि काव्यालोचन की कसौटी स्वय आलोचक की रुचि से निर्मित हो, अथवा परम्परागत सिद्धान्तो से, जीवन का वहाँ कोई प्रश्न ही नही था। केवल एक ही आदर्श सामने था—कविः करोति कव्यानि, स्वाद जानन्ति पडिता', इसी वल पर आलोचक फूला नही समाता था।

काव्यालोचन के सदर्भ मे धर्म, नीति और लोक मगल को स्थान देकर आचार्य शुक्ल ने कुछ उदारता का परिचय दिया, और जीवन की माँग को सीमित रूप मे ही सही, सामने रखा। सीमित इसलिए कि शुक्ल जी जीवन का अर्थ उस जीवन से लगाते थे जो रामचरितमानस मे व्यक्त हुआ है, उसके बाहर जीवन की किसी स्थिति पर उनकी आस्था नही के वरावर थी। किसी भी काव्य पर विचार करते समय वे यह देखना नही भूल पाते थे कि गोस्वामी जी के काव्य से उसकी पुष्टि होती है या नही।

छायावादी कवियो ने और विशेप रूप से महादेवी जी ने काव्यालोचन के सिद्धान्तों को प्रथम वार जीवन के विकासशील सिद्धान्तो के समकक्ष रखकर विवेचना के सूत्रो को केवल सिद्धान्तवादी आलोचको के हाथ से छीनकर कवि के जीवन व्यापी अनुभव और अभिव्यक्ति कौशल के हाथो मे रख दिया। जनतत्रीय जीवन धारा का साहित्य मे भी अभिषेक हुआ। इस प्रतिक्रिया से साहित्य के व्यापकत्व और कवि की प्रतिष्ठा का जो समवर्द्धन हुआ, वह चिर अपेक्षित था।

छायावादी स्वच्छन्द भावधारा और रहस्यवादी भावसूक्ष्मता तथा प्रेम के उदात्तीकरण को विदेशी तथा मात्र अभिव्यञ्जना एव केवल काल्पनिक कहने वालो का मुँह वन्द करने के लिए महादेवी जी ने उसे भारतीय काव्य की, जीवन के साथ सतत् विकसित होने वाली वैदिक, पालि और प्राकृत काव्यो की परम्परा से सवद्ध सिद्ध करते हुए उसकी स्थिति को स्वाभाविक और उसकी अभिव्यक्ति को सांस्कृतिक महत्ता देने मे जिस सश्लेषणी प्रतिभा का परिचय दिया है, वह समीक्षा के इतिहास मे अकेली है। परवर्ती आलोचको की आलोचना मे इसका प्रभाव और अनुसरण प्रत्यक्ष है।

'गीति-काव्य' पर उनका निवन्ध अपने ढंग का प्रथम और प्रामाणिक है। उनकी गीत की यह परिभाषा पाठको और आलोचको के लिए कठहार वन गयी

म यह प्रगति की भावना साहित्य को सार्वजनिक कल्याण के पथ पर अग्रसर नहीं कर सकती। उसे केवल ऐसा अपरिणामदर्शी, दलबद्ध और बुद्धिजीवी राजनीतिक वर्ग ही स्वीकार कर सकता है जो जीवन के स्वाभाविक स्पन्दन से दूर रहने का अभ्यस्त हो चुका है। परिणामतः एक ओर उसका मस्तिष्क विचारों की व्यायामशाला बन जाता है और दूसरी ओर हृदय निर्जीव चित्रों का संग्रहालय मात्र रह जाता है।

प्रगति-पथियों के लिए महादेवी जी का यह वाक्य सदा स्मरणीय रहेगा—'सफल प्रगति काव्य के लिए अनुभूतियों को कठोर धरती का निश्चित स्पर्श देकर भी भाव के आकाश की छाया में रखना उचित था जो इस युग की अस्वाभाविक बौद्धिकता के कारण सहज न हो सका।

गतिशील भावभूमि से सर्वथा विच्छिन्न करके काव्य को विशुद्ध तर्क भूमि पर प्रतिष्ठित करने का परिणाम केवल गतिहीनता ही हो सकता है, जैसे पानी को बर्फ बना देने से। भाव और सहज संवेदनीयता की नितान्त न्यूनता के कारण काव्य प्रवाह का स्थिर हो जाना ही सम्भव है, आज हम इस सत्य से पूर्णतः अवगत हो चुके हैं। प्रगति के नाम पर वासना के नग्न चित्रों का प्रदर्शन, जीवन के केवल कुत्सित रूपों का चित्रण विकृतियों की चित्रशाला उपस्थित करने में भले ही कृत-कृत्य हो किन्तु उसके लिए सच्ची साहित्य प्रगति का आधार बन सकना कभी किसी प्रकार से संभव नहीं हो सकता। साहित्य में किसी भी विचारधारा की सप्राणता का प्रमाण उसका उत्कृष्ट एवं जीवन्त सृजन ही होता है न कि दूसरी विचार धाराओं को नगण्य बताकर उनके नष्ट करने का प्रयत्न मात्र। विभिन्न साहित्यिक धाराओं को लेकर चलने वाले कटु विवादों की व्यर्थता पर महादेवी जी की धारणा महत्वपूर्ण है—

विवाद जीवन का चिह्न है और निर्जीवता का भी। लहरें बाहर से विविध किन्तु भीतर से एक रह कर जल की गतिशीलता प्रकट करती हैं पर सूखते हुए पंक की कठिन पड़नेवाली दरारें भीतर सूखती हुई तरल एकता की घोषणा हैं। इस सत्य को हम जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी देख चुके हैं। हम राजनीतिक और सामाजिक संगठन करने चले थे और इतने बिखर गये कि किसी प्रकार का भी निर्माण असम्भव हो गया। हमने हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रश्न उठाया और विवादों ने पाकिस्तान जैसी गहरी खाई खोद डाली। हम हिन्दी उर्दू को एक करने का लक्ष्य लेकर उनकी विवेचना करने लगे और दो के स्थान में तीन भाषाओं की सृष्टि कर बैठे।

हमारे साहित्यिक विवाद इन सब अभिशापों से ग्रसित और दुखद हैं क्योंकि

साथ मन नवा रहित नहा हो सकता उनवी निकटता सघप की जननी है।
इसी म आज के युग म मनुष्य पास है परन्तु मनुष्य का नवाकुल मन पास आने
वाला से दूर होता जा रहा है। स्वस्थ आदान प्रदान के लिए मना की निकटता
पहली आवश्यकता है।

निकटता की स्थिति मात्र से राष्ट्र को सावधान करते हुए उन्होंने अपनी
उस सास्कृतिक मन की निकटता एव एकता को जगाने का आग्रह किया है जो,
हमारी बुद्धि म अभेद और हृदय म सामजस्य की स्थापना से मानव-मात्र की
भीतरी एकता का भावन करती चली आ रही है। इस यत्रयुग की कठोर,
किन्तु विशाल छाया म यदि हम सहज मानवीय सवेदना क प्रकाश को विकीर्ण
कर सकें तो हमारी सास्कृतिक परम्परा का गौरव तो बढ़ेगा ही हम भी अपने
को उसके सच्चे उत्तराधिकारी घोषित करने का अधिकार प्राप्त कर सकेंगे।

वज्ञानिक युग की निकट का दूरी से बचने के लिए हम महादेवी जी का यह
कथन स्मरण रखना होगा-- जब भावयोगी मनुष्य मनुष्य के निकट पहुँचने के
लिए दुलघ्य पर्वता और दुस्तर समुद्रो को पार करने म वर्षों का समय बिताता
था उस युग म भी मानवमात्र की एकता क वही वतालिक रहे हैं। आज जब
विज्ञान ने वर्षों को घटा म बदल दिया है तब वे मनुष्य से अपरिचित क्यो
रहने द बुद्धि को बुद्धि का आतक क्या बनने दे और हृदय को हृदय के विरोध
म क्यो खडा होने द। हम विश्व भर से परिचय की यात्रा म निकलने के प
यदि अपने देश के हर कोने से परिचित हो ल तो इसे शुभ शकुन ही मान
चाहिए। यदि घर म अपरिचय के समुद्र से विरोध और आशका क बाद
उठते रहे तो हमारे उजले सकल्प पथ भूल जायगे। अत आज दूरी को निक
टता बनाने के मुहूत म हम निकट की दूरी से सावधान रहने की आवश्यकता है।

इस कृति के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महादेवी ने साहित्य की
जीवन व्यापी विविधता और उसम प्रतिफलित होने वाले प्राय सभी महत्त्वपूर्ण
विषयों का लकर इतने विस्तार और इतनी गम्भीरता से विवेचन किया है कि
पाठक के मन म भाव विचार सकल्प भावना यष्टि-समष्टि राष्ट्र परराष्ट्र जड
चेतन सूक्ष्म-स्थूल यथार्थ आदर्श सामयिकता शाश्वतता ज्ञान विज्ञान श्लीलता-
अश्लीलता प्रत्यक्ष-परोक्ष परम्परा प्रगति सभ्यता-संस्कृति रूप-कुरूप नित्य
सौन्दय नूतन-पुरातन भौतिकता आध्यात्मिकता एकता-अनेकता अतीन-वर्त
मान बाह्यागत अतर्जन्य बुद्धि हृदय भावन चिन्तन गुरु-लघु अधिकार-
अधिकार सिद्धान्त क्रिया धर्म-कर्म कठोर-कोमल राग विराग युद्ध शान्ति
शापक शासित नतिक अनतिक स्वभाव संस्कार सूत्र असूत्र हास विलास,

आस्था-अनास्था, देश-काल, नर-नारी, राजनीति-अर्थनीति, नास्तिक-आस्तिक, आत्मा-परमात्मा आदि के विषय मे उनकी मान्यता और उनकी समन्वयवादी दृष्टि एव उनके सामजस्यपूर्ण जीवन-दर्शन के प्रति किसी प्रकार की उलझन शेष नही रह जाती और वह साहित्य के विराट स्वरूप से परिचित होकर उसके आधार जीवन और जगत के प्रति अनायास ही सवेदनशील हो उठता है।

अनुभूति के रगो से रजित और व्यवस्थित सास्कृतिक चिंतन से चित्रित समालोचना के ये सश्लिष्ट चित्र उनकी बहुमुखी प्रतिभा और उनकी स्वय-प्रकाश प्रज्ञा के प्रौढतम प्रतीक है। इस विवेचना पद्धति की चर्चा करते हुए श्री इलाचन्द्र जोशी ने कहा है—'हिन्दी के अन्य आलोचकगण महादेवी जी के साधनात्मक और सहृदयतापूर्ण गहन चिंतन द्वारा प्रसूत इस विवेचना से लाभ उठा सके तो यह हिन्दी के लिए निश्चय ही बडे सौभाग्य की बात होगी।'

अन्त मे यह कह देना आवश्यक है कि महादेवी जी की विवेचना उनके कवि तथा विचारक के सामजस्य का सुफल है। साहित्य के सनातन और स्थायी सत्यो का निरूपण जिस निष्पक्ष और परिमार्जित एव सरस-स्पष्ट शैली मे हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। अपने युग के सृजन मे प्राण-प्रवेग भरने के साथ युग की समीक्षा को प्रेरणा देने मे भी यह समीक्षा सफल रही है। सुलझे विचारो की शक्तिमत्ता, सूक्ष्म निरीक्षण की निष्ठा, आत्मानुभूत सिद्धान्तो की सुबोध प्रतिपादना और जीवन-दर्शन की व्यापकता से सचालित यह विवेचना साहित्यिक अभिप्रायो के आकलन, अकन और उद्घाटन मे अद्वितीय है। जीवन की विकासशील सयोजना, सौन्दर्य की आराधना तथा साहित्य-साधना के लिए आत्मा के जिस परिष्करण की अनिवार्यता होती है, वह महादेवी जैसे विदग्ध कलाकारो की निजी महत्ता है।

साहित्यिक सुझाव की इसी सात्विक प्रेरणा से प्रेरित होकर मैने इन विवेचनात्मक निबन्धो के इस सग्रह को, इस पुस्तक के रूप मे हिन्दी-ससार के सामने उपस्थित करने का सक्रिय सकल्प किया है। पुष्पो का स्रष्टा न होकर भी पुष्पार्पण करने का सौभाग्य पुजारी की अपनी ही उपलब्धि कही जायगी। आशा है, साहित्यानुरागियो को इससे एक मानसिक एव हार्दिक तृप्ति मिलेगी और वे अपनी विवेचनात्मक रुचि का सस्कार-परिष्कार करने मे सफल मनोरथ हो सकेगे। इतिशुभम्

प्रयाग
जनवरी, १९६२

—गंगाप्रसाद पाण्डेय

साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध

साहित्यकार की आस्था

●●

जीवन के गूढ रहस्यो को अशत व्यक्त करने के लिए मनुष्य ने जिन भाषा-सकेतो का आविष्कार किया है, वे प्राय अपनी रूढ परिभाषाओ की सीमा पार कर हृदय और बुद्धि के अनेक स्तरो तक फैल जाते है। जल पृथ्वी पर तट बनाता है, ऊँचे-नीचे कगारो मे बँधता है; पर धरती के नीचे जल, जल से, ज्वाला से, शिला-खण्डो से और अनेक धातुओ से अनायास ही मिल जाता है, इनके बीच तट-रेखाओ का प्रश्न नही उठता।

आस्था शब्द भी इसी प्रकार का सकेत मे एक, पर सकेतित लक्ष्य में विविध-रूपात्मक कहा जायगा। आस् और स्था, अस्तित्व और स्थिति दोनो का उसमे ऐसा समन्वय है कि धर्म के आस्तिक से लेकर वैज्ञानिक युग के नास्तिक तक सब उसे स्वीकृति देते हैं।

जहाँ तक आस्था की भावभूमि का प्रश्न है वह जीवन की सहजात चेतना के विकास-क्रम मे ही निर्मित होती चलती है।

हमारे चारो ओर जो प्रत्यक्ष जगत है उसमे सब कुछ निरन्तर परिवर्तित होता, बनता मिटता रहता है। पर अबोध बालक के लिए भी यह शका स्वाभाविक नही कि सूर्य सवेरे लौटेगा या नही।

इस धारणा के पीछे अनन्त युगो के अनुभवजन्य सस्कार है। मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा के लिए जो पाथेय लेकर चलता है उसका बहुत सा अश उसे जन्म के साथ उत्तराधिकार मे प्राप्त हो जाता है। शेष की उपलब्धि उसे यात्राक्रम मे अपने अनुभव, कल्पना, चिन्तन आदि से होती रहती है।

साहित्यकार की आस्था

●●

जीवन के गूढ रहस्यो को अंशत व्यक्त करने के लिए मनुष्य ने जिन भाषा-सकेतो का आविष्कार किया है, वे प्राय अपनी रूढ परिभाषाओ की सीमा पार कर हृदय और बुद्धि के अनेक स्तरो तक फैल जाते है। जल पृथ्वी पर तट बनाता है, ऊँचे-नीचे कगारो मे बँधता है, पर धरती के नीचे जल, जल से, ज्वाला से, शिला-खण्डो से और अनेक धातुओ से अनायास ही मिल जाता है, इनके बीच तट-रेखाओ का प्रश्न नही उठता।

आस्था शब्द भी इसी प्रकार का सकेत मे एक, पर सकेतित लक्ष्य मे विविध-रूपात्मक कहा जायगा। आस् और स्था, अस्तित्व और स्थिति दोनो का उसमे ऐसा समन्वय है कि धर्म के आस्तिक से लेकर वैज्ञानिक युग के नास्तिक तक सब उसे स्वीकृति देते है।

जहाँ तक आस्था की भावभूमि का प्रश्न है वह जीवन की सहजात चेतना के विकास-क्रम मे ही निर्मित होती चलती है।

हमारे चारो ओर जो प्रत्यक्ष जगत है उसमे सब कुछ निरन्तर परिवर्तित होता, बनता मिटता रहता है। पर अबोध बालक के लिए भी यह शका स्वाभाविक नही कि सूर्य सबेरे लौटेगा या नही।

इस धारणा के पीछे अनन्त युगो के अनुभवजन्य सस्कार है। मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा के लिए जो पाथेय लेकर चलता है उसका बहुत सा अश उसे जन्म के साथ उत्तराधिकार मे प्राप्त हो जाता है। शेष की उपलब्धि उसे यात्राक्रम मे अपने अनुभव, कल्पना, चिन्तन आदि से होती रहती है।

इस प्रकार आधुनिक अणुयुग का मानव भी अपने अनेक संस्कारों के लिए आदिम पूर्वज का आभारी है।

आस्था के सम्बन्ध में भी यही सत्य है—उसका मूल संस्कार-जन्य है पर प्रकार और व्याप्ति व्यक्तिगत अनुभवों की उपलब्धि है। कोई भी अस्तित्व चाहे वह भौतिक हो चाहे भावात्मक अकेला नहीं हो सकता क्योंकि अनेक अस्तित्वों के साथ होने के कारण ही उसे एक सत्ता प्राप्त है और वह सत्य कहा जा सकता है। इसी प्रकार कोई भी स्थिति एकाकी नहीं है क्योंकि उस स्थिति विशेष जनन के लिए स्थितियों की समष्टि में अपना परिचय देना पड़ता है अतः आस्था व्यक्तिगत होने पर भी सीमित नहीं हो सकती। वस्तुतः आस्था मानव के युगान्तर में प्राप्त दार्शनिक सत्य पर केन्द्रित रागात्मक दृष्टि है। हर मानव में किसी-न-किसी रूप और सीमा तक इसका होना अनिवार्य है। पर पात्र की सीमा और रेखाओं के अनुसार परिवर्तित जल के समान व्यक्तिगत सीमा में उसका विकास सीमित रहे यह स्वाभाविक ही है।

आस्था जिसका एक अर्थ स्वीकारोक्ति भी है वस्तुतः व्यक्ति के द्वारा समष्टि की स्वीकृति है। इस स्वीकृति के लिए मनुष्य को अपने से बाहर स्थित जीवन से परिचित होना पड़ता है अनेक परोक्ष और प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर एक जीवन दर्शन बनाना और उससे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है।

व्यक्तिगत आस्था का किसी समाजिक स्थिति से विरोध हो सकता है पर विकासगत सामाजिक या व्यापक जीवन-लक्ष्य से नहीं।

मैं केवल अपने सुख में आस्था रखता हूँ मैं केवल अपने जीने की उपयोगिता में आस्था रखता हूँ आदि भौतिक तथ्य होने पर भी आस्था के विरोधी हैं। पर मैं निर्दिष्ट जीवन में आस्था रखता हूँ मैं जीवन की आध्यात्मिक परिणति में आस्था रखता हूँ आदि भावात्मक स्थिति रखने पर भी आस्था के निकट हैं। कारण स्पष्ट है। पहले तथ्य में समष्टि की अस्वीकृति और दूसरी भावना में उसकी स्वीकृति है।

जीवन की दृष्टि से आस्तिक और नास्तिक होना एक ही रेखा के दो छोरों पर रहते हैं। एक जीवन के उन्नयनकारी के लिए अलौकिक साधना की छाया में सत्य रहता है और दूसरा उसी को भौतिक स्थिति में सामञ्जस्य मानने के लिए लौकिक माध्यमों का उपयोग करता है।

स्वभाव एक होने के कारण पूजा के उपकरणों की भिन्नता भी उसे सम्बन्ध में एक रखता है।

समष्टि की इकाई होने के कारण साहित्यकार के जीवन-दर्शन और आस्था का निर्माण भी समाज विशेष और युग विशेष मे होता है। पर उसका सृजन-कर्म उसकी आस्था के साथ जैसा अभिन्न और प्रगाढ सम्बन्ध रखता है वैसा अन्य व्यक्तियो और उनके व्यवसायो मे नही रहता।

एक लौहकार अच्छी तलवार गढ कर भी मारने मे आस्था नही रखता। एक व्यापारी को, सफलता के लिए सत्य मे आस्था की आवश्यकता नही होती।

पर साहित्यकार का सृजन आस्था की धरती से इतना रस ग्रहण करता है कि उसे अस्वीकार करके वह स्वय अपने निकट असत्य बन जाता है। आस्था किसी अन्य कर्म व्यापार के परिणाम को प्रभावित कर सकती है, परन्तु साहित्य को तो वह स्पन्दित और दीप्त जीवन देती है। साहित्य जीवन का अलकार नही है, वह स्वय जीवन है। साहित्यकार सृजन के क्षणो मे उस जीवन मे जीता है और पाठक पढने के क्षणो मे।

इस प्रकार साहित्य मे हम जीवन के अनेक गहरे अपरिचित स्तरो मे, मनोवृत्तियो के अनेक अज्ञात छायालोको मे जीवित होकर अपने जीवन को विस्तार, अनुभूतियो को गहराई और चिन्तन को व्यापकता देकर उसे समष्टि से आत्मीय सम्बन्धो मे जोडते है। इस प्रकार एक जीवन मे अनेक जीवन जीने के उल्लास के पीछे यदि कोई गम्भीर विश्वास नही है तो यह बाजीगर का खेल मात्र रह जायगा।

हमारे चिन्तको ने जीवन और जगत की गतिमय परिवर्तनशीलता को सँभालने वाले जिस महान् नियम को ऋत् की सज्ञा दी है, आस्था उसी की रागात्मक स्वीकृति है।

अत जीवन की गतिशीलता से आस्था का कोई विरोध सम्भव नही—वैसे ही जैसे अनेक पथो पर चलनेवालो का क्षितिज से कोई विरोध सम्भव नही।

आस्था मे और विशेषत साहित्यकार की आस्था मे समसामयिक तत्व कितना है और शाश्वत कितना, यह प्रश्न भी कुछ कम उलझन नही उत्पन्न करता।

आस्था जीवन-क्रम मे निर्मित होती है, अत उसे कोई जडीभूत तत्व मान लेना उचित न होगा।

जब मनुष्य के हृदय और बुद्धि की परिधि परिवार ही था, तब उसी के प्रसाधन-सरक्षण तक उसकी आस्था सीमित थी। जैसे-जैसे उसके बुद्धि और हृदय ने समाज, ग्राम, नगर, देश आदि के क्रम पारकर विश्व की सत्ता को स्वीकार किया, उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़े, वैसे-वैसे ही उसकी आस्था नये

क्षितिजों को अपनाती गयी। व्यक्ति जैसे विश्व तक फैल गया है वैसे ही उसके सुख-दुःखों का विस्तार हुआ है। दुःख भोजन-वस्त्र के प्रत्यक्ष अभाव से लेकर परतन्त्रता, उपेक्षा, अप्रतिष्ठा आदि की अप्रत्यक्ष भावना तक फैल गया है। सुख शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति से लेकर स्नेह, समता, बन्धुता, आत्मीयता जैसी भावनाओं में सूक्ष्म व्यापकता पा गया है। आज किसी को भोजन वस्त्र देना मात्र पर्याप्त नहीं है उसे स्नेह और बन्धुता की छाया में देना होगा। और यह एक की नहीं विश्व भर की आवश्यकता है।

इस प्रत्यक्ष के अतिरिक्त जीवन के विकास की अन्य रहस्यमय सूक्ष्म दिशाएं भी हैं।

अतः आज के व्यक्ति को अपनी आस्था में विराट् मानव का कर्तव्य सँभालना पड़ता है। विज्ञान ने भू-खण्डों को एक दूसरे के इतना निकट पहुँचा दिया है कि यह कर्तव्य हर व्यक्ति को प्राप्त हो गया है। ध्वंस और निर्माण दोनों ही के लिए पहले अधिक संख्या की आवश्यकता थी। आज देशविशेष के ध्वंस के लिए उद्जन बम ले जाने वाला कोई भी एक व्यक्ति पर्याप्त है। पर इसी प्रकार उसे रोकने के लिए भी कोई एक पर्याप्त हो सकता है। यह एक, समष्टि का कोई भी व्यक्ति हो सकता है। परिणामतः समय के आवाहन का उत्तर देने के लिए समष्टि को एक व्यक्ति की तरह तैयार रहना पड़ता है। ऐसी स्थिति में साहित्यकार का कर्तव्य कितना गुरु हो सकता है इसका अनुमान सहज है।

समसामयिक और शाश्वत् परस्पर विरोधी स्थितियाँ नहीं हैं। उनमें है और 'होना चाहिए' का अन्तर मात्र है। अनेक समसामयिक, अतीत बनकर ही शाश्वत का सृजन करते हैं। एक इतिवृत्त है और दूसरा अनेक इतिवृत्तों के अनुभव-सघात से निर्मित भावना सत्य रहता है। कोई भी व्यापक लक्ष्य स्वयं तक पहुँचाने वाले साधनों का विरोध नहीं करता और साधनों का अस्तित्व समसामयिक परिस्थितियों में रहता है।

गंगा सागर समुद्र में गिरती है का अर्थ यह नहीं होता कि उसका मार्ग वाण की तरह सीधा है और उसे कोई टीला या मोड़ पार नहीं करना पड़ता। तट लक्ष्य होने पर क्या हर लहर से नाव को संघर्ष नहीं करना होगा?

मनुष्यता का सर्वांगीण विकास, मनुष्य के जीवन की दुःख दैन्य रहित गरिमा, शिवता और सौन्दर्य हमारा लक्ष्य है। और इस विराट् शाश्वत् का सृजन उस क्षण प्रारम्भ हुआ होगा जब कि आदिम युग के दो अहेरियों ने एक दूसरे के आघातों को देखकर अस्त्र फेंक दिए होंगे और एक दूसरे को गले लगा लिया होगा।

जिन युगो मे एक भू-खण्ड दूसरे मे परिचित नही था, उनमे भी मनुष्य ने वसुधा को कुटुम्ब के रूप मे स्वीकार कर अनदेखे सहयात्रियो के प्रति आस्था व्यक्त की है। तब आज के मगल-ग्रह खोजी वैज्ञानिक युग को आस्था का अभाव क्यो हो ? आज साहित्यकार की आस्था का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है, पर यह व्यापकता उसे समसामयिक परिस्थितयो से सघर्ष कर उन्हे लक्ष्योन्मुख बना लेने की शक्ति दे सकती है।

उसे विस्तृत मानव परिवार को ममता देनी है। इतना ही नही यदि मंगलग्रह-निवासियो को विज्ञान खोज ले तो उन्हे भी उसकी ममता की आवश्यकता पड सकती है। और ममता श्रद्धामय आत्मदान है।

माता जिस प्रकार आस्था के बिना अपने रक्त से सन्तान का सृजन नही कर सकती, धरती जिस प्रकार ऋतु के बिना अकुर को विकास नही दे सकती, साहित्यकार भी उसी प्रकार गम्भीर विश्वास के बिना अपने जीवन को अपने सृजन मे अवतार नही दे पाता।

यह आस्था सृजन की दृष्टि से व्यक्तिगत पर प्रसार की दृष्टि से समष्टिगत ही रहेगी।

काव्य-कला

●●

सत्य पर जीवन का सुन्दर ताना-बाना बुनने के लिए कला सृष्टि ने स्थूल सूक्ष्म सभी विषयों को अपना उपकरण बनाया। वह पाषाण की कठोर स्थूलता से रंग रेखाओं की निश्चित सीमा, उससे ध्वनि की क्षणिक् स्थिति और तब शब्द की सूक्ष्म व्यापकता तक पहुँची अथवा किसी और क्रम से, यह जान लेना बहुत सहज नहीं। परन्तु शब्द के विस्तार में कला-सृजन को पाषाण की मूर्तिमत्ता, रंग रेखा की सजीवता, स्वर का माधुर्य सब कुछ एकत्र कर लेने की सुविधा प्राप्त हो गयी। काव्य में कला का उत्कर्ष एक ऐसे बिन्दु तक पहुँच गया, जहाँ से वह ज्ञान को भी सहायता दे सका, क्योंकि सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनन्त। इसी से साधन के परिचय स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मयभरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।

इस व्यापक सत्य के साथ हमारी सीमा का सम्बन्ध कुछ जटिल-सा है। हमारी दृष्टि के सामने क्षितिज तक जो अनन्त विस्तार फैला है वह मिट नहीं सकता, पर हम अपनी आँख के सामने एक छोटा सा तिनका भी खड़ा करके उसे इन्द्रजाल के समान ही अपने लिए लुप्त कर सकते हैं। फिर जब तक हम उसे अपनी आँख से कुछ अन्तर पर एक विशेष स्थिति में उस विस्तार के साथ रखकर न देखें तब तक हमारे लिए वह क्षितिजव्यापी विस्तार नहीं के बराबर है। केवल तिनका ही हमारी दृष्टि की सीमा को सब ओर से घेरकर विराट् बन जायगा। परन्तु उस तृण विशेष पर ही नहीं लता, वृक्ष, खेत, वन आदि सभी
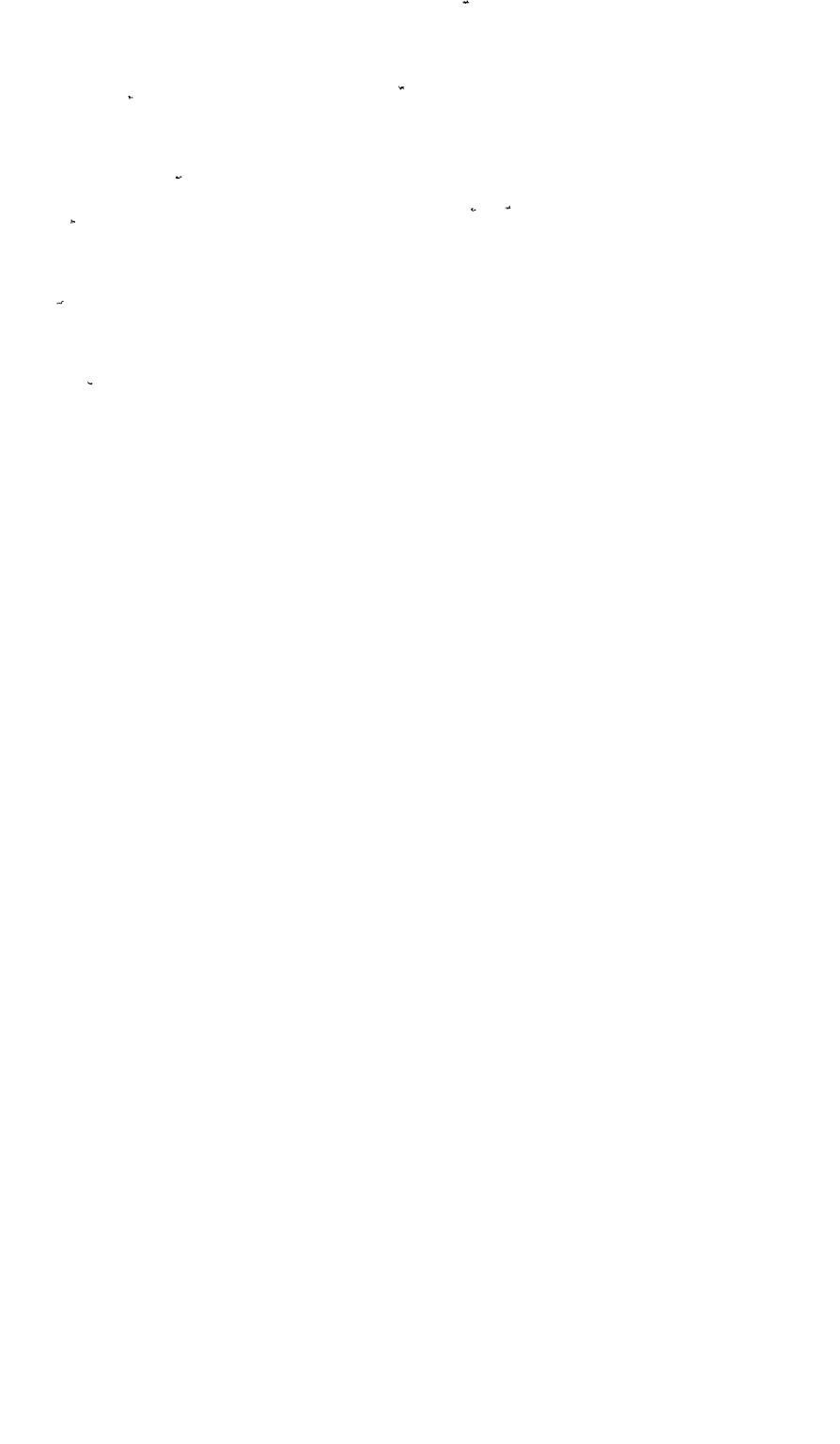
जब उनमें से कोई उस दुःख को, अनुभूति के क्षेत्र से निकालकर बौद्धिक धरातल पर रख देगा तब कथा ही दूसरी हो जायगी। अनुभूति अपनी सीमा में जितनी सबल है उतनी बुद्धि नहीं। हमारे स्वयं जलने की हल्की अनुभूति भी दूसरे के राख हो जाने के ज्ञान से अधिक स्थायी रहती है।

बुद्धिवृत्ति अपने विषय को ज्ञान के अनन्त विस्तार में गाथ रखकर देखती है, अतः व्यष्टिगत सीमा में उसका संदिग्ध हो उठना स्वाभाविक ही रहेगा। 'अमुक ने धूम देखकर अग्नि पाई' की जितनी आवृत्तियाँ होंगी, हमारा धूम और अग्नि की सापेक्षता विषयक ज्ञान उतनी ही निश्चित स्थिति पा सकेगा। पर अपने विषय पर केन्द्रित होकर उसे जीवन की अनन्त गहराई तक ले जाना अनुभूति का लक्ष्य रहता है, इसी से हमारी व्यक्तिगत अनुभूति जितनी तीव्र और तीव्र होगी दूसरे का अनुभूत सत्य हमारे समीप उतना ही असन्दिग्ध होकर आ सकेगा। तुमने जिसे पानी समझा वह बालू की चमक है, तुमने जिसे काला देखा वह नीला है, तुमने जिसे कोमल पाया वह कठोर है आदि आदि कहकर हम दूसरे में स्वयं उसी के इन्द्रियजन्य ज्ञान के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर सकते हैं परन्तु 'तुम्हें जो काँटा चुभने की पीड़ा हुई वह भ्रान्ति है' यह हमसे असंख्य बार सुनकर भी कोई अपनी पीड़ा के अस्तित्व में सन्देह नहीं करेगा।

जीवन के निश्चित बिन्दुओं को जोड़ने का कार्य हमारा मस्तिष्क कर सकता है पर इस क्रम से बनी परिधि में सजीवता के रंग भरने की क्षमता हृदय में ही सम्भव है। काव्य या कला मानो इन दोनों का संधिपत्र है जिसके अनुसार बुद्धिवृत्ति झीने वायुमण्डल के समान बिना भार डाले हुए ही जीवन पर फैली रहती है और रागात्मिका वृत्ति उसके धरातल पर सत्य को अनन्त रंग रूपों में चिर नवीन स्थिति देती रहती है। अतः काव्यकला का सत्य जीवन की परिधि में सौंदर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखण्ड सत्य है।

सौंदर्य सम्बन्धी समस्या भी कुछ कम उलझी हुई नहीं है। बाह्यजगत अनेक रूपात्मक है और उन रूपों का सुन्दर तथा कुरूप में एक व्यावहारिक वर्गीकरण भी हो चुका है। क्या कला इस वर्गीकरण की परिधि में आनेवाले सौंदर्य को ही सत्य का माध्यम बनाकर शेष को छोड़ दे? केवल बाह्य रेखाओं और रंगों का सामंजस्य ही सौंदर्य कहा जाय तो प्रत्येक भूखण्ड का मानव-समाज ही नहीं प्रत्येक व्यक्ति भी अपनी रुचि में दूसरे से भिन्न मिलेगा। किसके रुचि-वैचित्र्य के अनुसार सामंजस्य की परिभाषा बनाई जाय यह प्रश्न सत्य से भी अधिक जटिल हो उठेगा।

सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएं जिस सौंदर्य का सहारा लेते हैं

वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है, केवल बाह्य रूपरेखा पर नहीं। प्रकृति का अनन्त वैभव, प्राणिजगत् की अनेकात्मक गतिशीलता, अन्तर्जगत् की रहस्यमयी विविधता, सब कुछ उनके सौन्दर्य-कोष के अन्तर्गत है और इनमें से क्षुद्रतम वस्तु के लिए भी ऐसे मुहूर्त आ उपस्थित होते हैं, जिनमें वह पर्वत के समकक्ष खड़ी होकर ही सफल हो सकती है और गुरुतम वस्तु के लिए भी ऐसे लघु क्षण आ पहुँचते हैं, जिनमें वह छोटे तृण के साथ बैठकर ही कृतार्थ बन सकती है।

जीवन का जो स्पर्श विकास के लिए अपेक्षित है उसे पाने के उपरान्त छोटा, बड़ा, लघु, गुरु, सुन्दर, विरूप, आकर्षक, भयानक, कुछ भी कलाजगत से बहिष्कृत नहीं किया जाता। उजले कमलों की चादर जैसी चाँदनी में मुस्कराती हुई विभावरी अभिराम है, पर अँधेरे के स्तर पर स्तर ओढ़कर विराट् बनी हुई काली रजनी भी कम सुन्दर नहीं। फूलों के बोझ से झुक झुक पड़नेवाली लता कोमल है, पर शून्य नीलिमा की ओर विस्मित बालक सा ताकने वाला ठूँठ भी कम सुकुमार नहीं। अविरल जलदान से पृथ्वी को कँपा देनेवाला बादल ऊँचा है, पर एक बूँद आँसू के भार से नत और कम्पित तृण भी कम उन्नत नहीं। गुलाब के रंग और नवनीत की कोमलता में कंकाल छिपाये हुए रूपसी कमनीय है, पर झुर्रियों में जीवन का विज्ञान लिखे हुए वृद्ध भी कम आकर्षक नहीं। बाह्य जीवन की कठोरता, संघर्ष, जय-पराजय सब मूल्यवान् है, पर अन्तर्जगत् की कल्पना, स्वप्न, भावना आदि भी कम अनमोल नहीं।

उपयोग की कला और सौन्दर्य की कला को लेकर बहुत से विवाद सम्भव होते रहे, परन्तु यह भेद मूलतः एक दूसरे से बहुत दूरी पर नहीं ठहरते।

कला शब्द से किसी निर्मित पूर्ण खण्ड का ही बोध होता है और कोई भी निर्माण अपनी अन्तिम स्थिति में जितना सीमित है आरम्भ में उतना ही फैला हुआ मिलेगा। उसके पीछे स्थूल जगत् का अस्तित्व, जीवन की स्थिति, किसी अभाव की अनुभूति, पूर्ति का आदर्श, उपकरणों की खोज, एकत्रीकरण की कुशलता आदि आदि का जो इन्द्रजाल रहता है, उसके अभाव में निर्माण की स्थिति शून्य के अतिरिक्त कौन-सी सत्ता पा सकेगी! चिड़िया का कलरव कला न होकर कला का विषय हो सकेगा, पर मनुष्य के गीत को कला कहना होगा। एक में वह सहज प्रवृत्ति मात्र है, पर दूसरे ने सहज प्रवृत्ति के आधार पर अनेक स्वरों को विशेष सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति में रखकर एक विशेष रागिनी की सृष्टि की है, जो अपनी सीमा में जीवनव्यापी सुख-दुखों की अनुभूति को अक्षय रखती है। इस प्रकार प्रत्येक कला-कृति के लिए निर्माण सम्बन्धी विज्ञान की भी

आवश्यकता होगी और उस विधान की सीमित रेखाओं में व्यक्त होने वाले जीवन के व्यापक सत्य की अनुभूति की भी। जब हमारा ध्यान किसी एक पर ही केन्द्रित हो जाता है तब दोनों को जोड़ने वाली कड़ियाँ अस्पष्ट होने लगती हैं।

एक कृति को ललित कहकर चाहे हम जीवन की दृष्टि से अचल शिखर पर प्रतिष्ठित कर आवें और दूसरी को उपयोगी का नाम देकर चाहे जीवन के धूलभरे प्रत्यक्ष चरणों पर रख दें, परन्तु उन दोनों ही की स्थिति जीवन से बाहर सम्भव नहीं। उनकी दूरी हमारे विकास क्रम से बनी है कुछ उनकी तात्विक भिन्नता से नहीं। नीचे की पहली सीढ़ी से चलकर जब हम ऊपर की अन्तिम सीढ़ी पर खड़े हो जाते हैं तब उन दोनों की दूरी हमारे आरोह क्रम की सापेक्ष है—स्वयं एक एक तो न वे नीची हैं न ऊँची।

व्यावहारिक जगत् में हमने पहले खाद्य आच्छादन छाया आदि की समस्याओं को जिन मूलस्वरूपों में सुलझाया था उन्हें यदि आज के व्यंजन वस्त्र भूषण और भवन के ऐन्द्रजालिक विस्तार में रखकर देखें तो वे कला के स्थूल और सूक्ष्म उपयोग से भी अधिक रहस्यमय हो उठेंगे। जो बाह्य जगत् में सहज था वह अन्तर्जगत में भी स्वाभाविक हो गया, अतः उपयोग सम्बन्धी स्थूलता सूक्ष्म होते होते एक रहस्यमय विस्तार में हमारी दृष्टि से ओझल हो गयी—और तब हम उसका निकटवर्ती छोर पकड़ कर दूसरे को अस्तित्वहीन कहकर खोजने की चिन्ता से मुक्त होने लगे।

सत्य तो यह है कि जब तक हमारे सूक्ष्म अन्तर्जगत् का बाह्य जीवन में पग-पग पर उपयोग होता रहेगा, तब तक कला का सूक्ष्म उपयोग सम्बन्धी विवाद भी विशेष महत्व नहीं रख सकता। हमारे जीवन में सूक्ष्म और स्थूल की जैसी समन्वयात्मक स्थिति है वही कला को केवल स्थूल या केवल सूक्ष्म में निर्वासित न होने देगी। जब हम एक व्यक्ति के कार्य को स्वीकार करेंगे तब उसकी पटभूमिका बने हुए वायवी स्वप्न सूक्ष्म आदर्श रहस्यमयी भावना आदि का भी मूल्य आँकना आवश्यक हो जायगा और कला यदि उस वातावरण का ऐसा परिचय देती है जो कार्य से न दिया जा सकेगा तो जीवन को उसके लिए भीतर बाहर के सभी द्वार खोलने पड़ेंगे।

उपयोग की ऐसी निम्नोन्नत भूमियाँ हो सकती हैं जो अपने बाह्य रूपों में एक दूसरी से सर्वथा भिन्न जान पड़ें परन्तु जीवन के व्यापक धरातल पर उनके मूल्य में विशेष अन्तर नहीं रहता।

हमारी शिराओं में सञ्चरित जीवन रस और दूर मिट्टी में उत्पन्न अन्न के

उपयोग मे प्रत्यक्षत कितना अन्तर और अप्रत्यक्षत कैसी एकता है, यह कहने की आवश्यकता नही। रोगी की व्याधिविशेष के लिए शस्त्र-विशेष उपयोगी हो सकता हे, परन्तु उसके सिरहाने किसी सहृदय द्वारा रखा हुआ अधखिला गुलाव का फूल भी कम उपयोगी नही। अपनी वेदना मे छटपटाता हुआ वह, उस फूल की धीरे-धीरे खिलने और हौले-हौले झडनेवाली पखडियो को देख-देख कर, कै वार विश्राम की साँस लेता है, किस प्रकार अपने अकेलेपन को भर देता है, कितने भावो की समविषय भूमियो के पार आता जाता है और कैसे चिन्तन के क्षणो मे अपने आपको खोता है, पाता है, यह चाहे हमारे लिए प्रत्यक्ष न हो, परन्तु रोगी के जीवन मे तो सत्य रहेगा ही। चतुर चिकित्सक, रोग का निदान, उपयुक्त औषधि और पथ्य आदि का उपयोग स्पष्ट है, परन्तु रोगी की स्वस्थ इच्छाशक्ति, वातावरण का अनिर्वचनीय सामजस्य, सेवा करनेवाले का हृदयगत स्नेह, सद्भाव आदि उपयोग मे अप्रत्यक्ष होने के कारण कम महत्वपूर्ण है, यह कहना अपनी भ्रान्ति का परिचय देना होगा।

जव केवल शारीरिक स्थिति से सम्वन्ध रखनेवाला उपयोग भी इतना जटिल है, तव महत्वपूर्ण जीवन को अपनी परिधि मे घेरनेवाले उपयोग का प्रश्न कितना रहस्यमय हो सकता है, यह स्पष्ट है।

जिस प्रकार एक वस्तु के स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक असख्य उपयोग है, उसी प्रकार एक जीवन को सूक्ष्मतम से लेकर स्थूलतम तक अनन्त परिस्थितियो के वीच से आगे वढना होता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के अभाव और उनकी पूर्तियो मे इतनी सख्यातीत विविधता है, उसके कार्य-कारण के सम्वन्ध मे इतनी मापहीन व्यापकता है कि उपयोगविशेष की एक रेखा से समस्त जीवन को घेर लेने का प्रयास असफल ही रहेगा। मनुष्य का जीवन इतना एकागी नही कि उसे हम केवल अर्थ, केपल काम या ऐसी ही किसी एक कसौटी पर रखकर सम्पूर्ण रूप से खरा या खोटा कह सके। कपटी से कपटी लुटेरा भी अपने साथियो के साथ जितना सच्चा है उसे देखकर महान् सत्यवादी भी लज्जित हो सकता है। कठोर से कठोर अत्याचारी भी अपनी सन्तान के प्रति इतना कोमल है कि कोई भावुक भी उसकी तुलना मे न ठहरेगा। उद्धत से उद्धत वर्वर भी अपने माता-पिता के सामने इतना विनत मिलता है, कि उसे नम्र शिष्य की सज्ञा देने की इच्छा होती है। साराश यह कि जीवन के एक छोर से दूसरे छोर तक जो, एक स्थिति मे रह सके ऐसा जीवित मनुष्य सम्भव ही नही, अत एकान्त उपयोग की कल्पना ही सहज है।

जिस चढे हुए धनुप की प्रत्यञ्चा कभी नही उतरती, वह लक्ष्यवेध के काम

का नहीं रहता। जो नेत्र एक भाव में स्थिर हैं, जो ओठ एक मुद्रा में जड़ हैं, जो अंग एक स्थिति में अचल हैं वे चित्र या मूर्ति में ही अंकित रह सकते हैं। जीवन की गतिशीलता में विश्वास कर लेने पर मनुष्य की असंख्य परिस्थितियों और विविध आवश्यकताओं में विश्वास करना अनिवार्य हो उठता है और अभाव की विविधता से उपयोग की बहुरूपता एवं अविच्छिन्न सम्बन्ध में बंधी है। यह सत्य है कि जीवन में किसी आवश्यकता का अनुभव नित्य होता रहता है और किसी का यदा कदा परन्तु निरन्तर अनुभूत अभावों की पूर्ति ही पूर्ति है और जिनका अनुभव ऐसा नियमित नहीं वे अभाव ही नहीं ऐसी धारणा भ्रान्तिपूर्ण है।

कभी कभी एकरस अनेक वर्षों की तुलना में सहानुभूति स्नेह सुख-दुःख के कुछ क्षण कितने मूल्यवान ठहरते हैं, इसे कौन नहीं जानता। अनेक बार व्यक्ति के जीवन में एक छोटा सा चित्र या एक घटना ने अभूतपूर्व परिवर्तन सम्भव कर दिया है। कारण स्पष्ट है। जब कवि चित्रकार या गायक के मार्मिक सत्य ने उस व्यक्ति को एक क्षणिक कोमल मानसिक स्थिति में छू पाया तब वे क्षण अनन्त कोमलता और करुणा के साम्य द्वारा जीवन में समर्थ हो सके। ऐसे कुछ क्षण युगों से अधिक मूल्यवान और उपयोगी मान लिये जाय तो आश्चर्य की बात नहीं।

वास्तव में जीवन की गहराई की अनुभूति के कुछ क्षण होते हैं, वर्ष नहीं। परन्तु वे क्षण निरन्तरता से रहित होने के कारण कम उपयोगी नहीं कहे जा सकते। जो क्रूर मनुष्य सौ-सौ शास्त्रों के नित्य मनन से कोमल नहीं बन पाता वह यदि एक छोटे से निर्दोष बालक के सरल और आकस्मिक प्रश्न मात्र से द्रवित हो उठता है तो वह क्षणिक प्रश्न शास्त्रमनन की निरन्तरता से अधिक उपयोगी क्यों न माना जावे! एक बाण विद्ध क्रौञ्च से प्रभावित ऋषि <u>मा निषाद प्रतिष्ठा त्वं</u>—कह कर यदि प्रथम श्लोक और आदिकाव्य की रचना में समर्थ हो सका तो उस क्षुद्र पक्षी की व्यथा को मनीषा की ज्ञानगरिमा से अधिक मूल्य क्या न दिया जाय! यदि एक अनायास फल के गिरने से पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का पता लगा सका तो उस तुच्छ फल का टूटना पर्वत के टूटने से अधिक महत्वपूर्ण क्यों न समझा जाय!

यदि नित्य और नियमित स्थूल ही उपयोग की कसौटी रहे तो शरीर की कुछ आवश्यकताओं के अतिरिक्त और कुछ भी महत्व का परिधि में नहीं आता। परन्तु हमारे इस निश्चय को जीवन तो स्वीकार करे! बुद्धि ने अपनी सीमा में स्थूलतम से सूक्ष्मतम तक सब कुछ ज्ञेय माना है और हृदय ने अपनी

परिधि मे उसे संवेदनीय। जीवन ने इन दोनो को समान रूप से स्वीकृति देकर इस दोहरे उपयोग को असख्य विभिन्न और ऊँचे नीचे स्तरो मे विभाजित कर डाला है। जब इनमे से एक को लक्ष्य बनाकर हम जीवन का विकास चाहते है, तब हमारा प्रयास अपनी दिशा मे गतिशील होकर भी सम्पूर्ण जीवन को सामजस्यपूर्ण गति नही देता।

जीवन की अनिश्चित से अनिश्चित स्थिति भी उपयोग के प्रश्न को एकागी नही बना पाती। युद्ध के लिए प्रस्तुत सैनिक की स्थिति से अधिक अनिश्चित स्थिति और किसी की सम्भव नही, परन्तु उस स्थिति मे भी जीवन भोजन, आच्छादन और अस्त्रशस्त्र के उपयोग मे ही सीमित नही हो जाता। मस्तिष्क और हृदय को क्षण भर विश्राम देने वाले सुख के साधन, प्रियजनो के स्नेह भरे सन्देश, रक्षणीय वस्तुओ के सम्बन्ध मे ऊँचे-ऊँचे आदर्श, जय के सुनहले-रुपहले स्वप्न, अडिग साहस और विश्वास की भावना, अन्तश्चेतना का अनुशासन आदि, मिलकर ही तो वीर को वीरता से मरने और सम्मान से जीने की शक्ति दे सकते है। पौष्टिक भोजन, झिलमिलाते कवच और चकाचौंध उत्पन्न करने वाले अस्त्रशस्त्र मात्र वीर-हृदय का निर्माण नही करते, उसके निर्मायक उपकरण तो अन्तर्जगत् मे छिपे रहते है। यदि हम अन्तर्जगत् के वैभव को अनुपयोगी सिद्ध करना चाहे तो कवच मे यन्त्रचालित काठ के पुतले भी खडे किये जा सकते है, क्योंकि जीवित मनुष्य की तुलना मे उनकी आवश्यकताएँ नही के बराबर और उपयोग सहस्रगुण अधिक रहेगे।

उपयोग की ऐसी ही भ्रान्ति पर तो हमारा यन्त्र-युग खडा है। परन्तु ससार ने, हँसने-रोने थकने-मरने वाले मनुष्य को खोकर जो वीतराग, अथक और अमर देवता पाया है उसने, जीवन को, आत्महत्या का वरदान देने के अतिरिक्त और क्या किया? समाज और राष्ट्र मे मनुष्य की स्थिति न केवल तात्कालिक है और न अनिश्चित, अत उसके जीवन से सम्बन्ध रखने वाले उपयोग को, अधिक व्यापक धरातल पर स्थायित्व की रेखाओ मे देखना होगा।

उपयोगिता के प्रश्न के साथ एक कठिनाई और है। जैसे-जैसे उपयोग की भूमि ऊँची होती जाती है, वैसे-वैसे वह प्रत्यक्षता मे न्यून और व्यापकता मे अधिक होती चलती है। सबसे नीची भूमि जिस अश तक सापेक्ष है, सबसे ऊँची उसी अश तक निरपेक्ष। उपयोगिता की दृष्टि से खाद्य, भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के स्वास्थ्य, रुचि आदि की अपेक्षा रखता है, परन्तु उससे बना रस, रोगी, स्वस्थ आदि सभी प्रकार के व्यक्तियो के लिये समान रूप से उपयोगी रहेगा। इसी

स उपयोग की प्रत्यक्ष और निम्न भूमि पर जैसी विभिन्नता मिलती है, वसी उन्नत पर अप्रत्यक्ष भूमि पर सहज नही।

दूसरे क दु ख से सहानुभूति रखो यह सिद्धान्त जब व्यावहारिक जीवन मे केवल विधिनिषेध के रूप म आता है तब भिन्न भिन्न व्यक्तियो म इसके प्रयोग के रूप विभिन्न रहते हैं और प्रयोग से छुटकारा दिलवाले तक विविध। परन्तु जब यही इतिवृत्त हमारी भावभूमि पर हृदय की प्रेरणा बनकर उपस्थित होता है, तब न प्रयोगो म इतनी विभिन्नता दिखाई देती है और न तर्क की आवश्यकता रहती है। किसी का दु ख जब हमारे हृदय को स्पर्श कर चुका तब हम उसके और अपने सम्बन्ध को, साधारण लौकिक आदान प्रदान की तुला पर तोलने म असमर्थ ही रहेग।

यदि हम किसी के दु ख को बटा लग तो दूसरा भी हमारे दुख मे सहभागी होगा, यह सामाजिक नियम न हमे स्मरण रहता है और न हम स्मरण करना चाहेग। इसी से महानतम त्यागो के पीछे विधिनिषेधात्मक नैतिकता के संस्कार चाहे रहे, परन्तु स्वय विधिनिषेध की सतर्क चेतना सम्भव नही रहती। सत्य बोलना उचित है इस सिद्धान्त को गणित के नियम के समान रट रटकर जो सत्य बोलने की शक्ति पाता है वह सच्चा सत्यवादी नही। सत्यवादी तो उसे कहेगे, जिसमे सत्य बोलना विधि निषेध की सीमा पार कर स्वभाव ही बन चुका है। उपयोग की इस सूक्ष्म पर व्यापक भूमि पर सत्य म जसी एकता है स्थूल और सकीर्ण धरातल पर वैसी ही अनेकता। इसी कारण ससार भर के दार्शनिक, धर्म सस्थापक कवि आदि के सत्य म, देशकाल और व्यक्ति की दृष्टि से विभिन्नता होने पर भी मूलगत एकता मिलती है।

सत्य तो यह है कि उपयोग का प्रश्न जीवन के समान ही निम्न उन्नत सम विषम, प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष भूमियो मे समान रूप से व्याप्त है और रहेगा।

जहाँ तक काव्य तथा अन्य ललित कलाओ का सम्बन्ध है वे उपयोग की उस उन्नत भूमि पर स्थायी हो पाती हैं, जहाँ उपयोग सामान्य रह सके। करुण रागिनी उपयोग की जिस भूमि पर है वहा वह प्रत्येक श्रोता के हृदय म एक करुण भाव जाग्रत करके ही सफल हो सकेगी हर्ष या उल्लास को नही। व्यक्ति के संस्कार परिस्थिति मानसिक स्थिति आदि के अनुसार उसकी मात्राओ म न्यूनाधिक्य हो सकता है परन्तु उसके उपयोग म इतनी विभिन्नता सम्भव नही कि एक म हर्ष का सचार हो और दूसरे म विषाद का उद्रेक।

जीवन की गति देने के दो ही प्रकार हैं—एक तो बाह्य अनुशासन का सहारा देकर उसे चलाना और दूसरे, अन्तर्जगत म ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न कर देना

जिससे सामजस्यपूर्ण गतिशीलता अनिवार्य हो उठे। अन्तार्जगत् मे प्रेरणा बनने वाले साधनो की स्थिति, उस वीज के समान है, जिसे मिट्टी को, रग-रूप-रस आदि मे व्यक्त होने की सुविधा देने के लिए, स्वय उसके अन्धकार मे समाकर दृष्टि से ओझल हो जाना पडता है।

विधि-निषेध की दृष्टि से महान् कलाकार के पास उतना भी अधिकार नही जितना चौराहे पर खडे सिपाही को प्राप्त है। वह न किसी को आदेश दे सकता है और न उपदेश, और यदि देने की नासमझी करता भी है तो दूसरे उसे न मानकर समझदारी का परिचय देते है। वास्तव मे कलाकार तो जीवन का ऐसा सगी है, जो अपनी आत्म-कहानी मे, हृदय की कथा कहता है और स्वय चलकर पग-पग के लिए पथ प्रशस्त करता है। वह बौद्धिक परिणाम नही, किन्तु अपनी अनुभूति दूसरे तक पहुँचाता है और वह भी एक विशेषता के साथ। काँटा चुभाकर काँटे का ज्ञान तो ससार दे ही देगा, परन्तु कलाकार विना काँटा चुभने की पीडा दिये हुए ही उसकी कसक की तीव्रमधुर अनुभूति, दूसरे तक पहुँचाने मे समर्थ है। अपने अनुभवो की गहराई मे, वह जिस जीवन-सत्य से साक्षात् करता है, उसे दूसरे के लिए सवेदनीय वनाकर कहता चलता है 'यह सौन्दर्य तुम्हारा ही तो है, पर मैं आज देख पाया'। जीवन को स्पर्श करने का उसका ढग ऐसा है कि हम उसके सुख-दु ख, हर्ष-विषाद, हार-जीत सब कुछ प्रसन्नतापूर्वक ही स्वीकार करते है—दूसरे शब्दो मे हम विना खोजने का कष्ट उठाये हुए ही कलाकार के सत्य मे अपने आपको पाते है। दूसरे के बौद्धिक निष्कर्ष तो हमे अपने भीतर उनका प्रतिविम्ब खोजने पर वाध्य करते है, परन्तु अनुभूति हमारे हृदय से तादात्म्य करके प्राप्ति का सुख देती है।

उपदेशो के विपरीत अर्थ लगाये जा सकते है, नीति के अनुवाद भ्रान्त हो सकते है, परन्तु सच्चे कलाकार की सौन्दर्य-सृष्टि का अपरिचित रह जाना सम्भव है, वदल जाना सम्भव नही। मनु की जीवन-स्मृतियो मे अनर्थ की सम्भावना है, पर वाल्मीकि का जीवन-दर्शन श्लेषहीन ही रहेगा। इसी से कलाकारो के मठ नही निर्मित हुए, महन्त नही प्रतिष्ठित हुए, साम्राज्य नही स्थापित हुए और सम्राट् नही अभिषिक्त हुए। कवि या कलाकार अपनी सामान्यता मे ही सबका ऐसा अपना वन गया कि समय समय पर, धर्म, नीति आदि को, जीवन के निकट पहुँचने के लिए, उससे परिचय-पत्र माँगना पडा।

कवि मे दार्शनिक को खोजना वहुत साधारण हो गया है। जहाँ तक सत्य के मूल रूप का सम्वन्ध है, वे दोनो एक दूसरे के अधिक निकट है अवश्य, पर साधन और प्रयोगो की दृष्टि से उनका एक होना सहज नही। दार्शनिक वुद्धि

के निम्न स्तर से अपनी खोज आरम्भ करके उस सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचाकर सन्तुष्ट हो जाता है—उसकी सफलता यही है कि सूक्ष्म सत्य के उस रूप तक पहुँचने के लिए यही बौद्धिक क्रिया सम्भव रहे। अन्तर्जगत का सारा वैभव परख कर सत्य का मूल्य आँकना उसका अधिकार नहीं, भाव की गहराई में उतर कर जीवन की थाह लेने का उसे अधिकार नहीं। वह तो विज्ञान जगत की अधिकारी है। बुद्धि, अन्तर का बोध कराकर एकता का निर्देश करता है और हृदय एकता की अनुभूति देकर अन्तर की ओर संकेत करता है। परिणामतः चिन्तन की विभिन्न रेखाओं का समानान्तर रहना अनिवार्य हो जाता है। काव्य जिस दशा पर पहुँचकर तत्त्व की प्राप्ति करता है वह दर्शन का अध्याहृत न होगा और दर्शन जिस क्रम से बढ़कर सत्य तक पहुँचता है उसे योग स्वीकार न कर सकेगा।

काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है इसी से उसका दर्शन न बौद्धिक तर्क प्रणाली है और न सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचानेवाली विशेष विचार-पद्धति। वह तो जीवन को चेतना और अनुभूति के समस्त वैभव के साथ, स्वीकार करता है। अतः कवि का दर्शन जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है। दर्शन में चेतना के प्रति नास्तिक की स्थिति भी सम्भव है परन्तु काव्य में अनुभूति के प्रति अविश्वासी कवि की स्थिति असम्भव ही रहेगी। जीवन के अस्तित्व को शून्य प्रमाणित करके भी दार्शनिक बुद्धि के सूक्ष्म बिन्दु पर विश्राम कर सकता है, परन्तु वह अस्वाभाविक कवि के अस्तित्व को, डाल से टूटे पत्ते की स्थिति दे देती है।

दोनों का मूल अन्तर न जानकर ही हम किसी भी कलाकार में बुद्धि की एक रूप, एक दिशावाली रेखा ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं और असफल होने पर खीझ उठते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि दर्शन और कवि की स्थिति में विरोध है। कोई भी कलाकार दर्शन ही क्या, धर्म नीति आदि का विशेषज्ञ होने के कारण ही कलासृजन के उपयुक्त या अनुपयुक्त नहीं ठहरता। यह समस्या तो तब उत्पन्न होती है जब वह अपनी कला को ज्ञानविशेष का एकांगी, शुष्क और बौद्धिक अनुवाद मात्र बनाने लगता है।

कवि का वेदान्त-ज्ञान जब अनुभूतियों से रूप, कल्पना से रंग और भाव जगत से सौंदर्य पाकर साकार होता है, जब उसके सत्य में जीवन का स्पन्दन रहता बुद्धि की तर्क शृंखला नहीं। ऐसी स्थिति में उसका पूर्ण परिचय न अद्वैत दे सकता और न विशिष्टाद्वैत। यदि कवि ने इतनी सजीव साकारता के बिना ही अपने ज्ञान को कला के सिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया तो वह विकलांग

मूर्त्ति के समान न निरा देवता रहता है और न कोरा पाषाण। कला, जीवन की विविधता समेटती हुई आगे बढती है, अत: सम्पूर्ण जीवन को गला-पिघलाकर तर्कसूत्र मे परिणत कर लेना, उसका लक्ष्य नही हो सकता।

व्यष्टि और समष्टि मे समान रूप से व्याप्त जीवन के, हर्ष-शोक, आशा-निराशा, सुख-दुख आदि की सख्यातीत विविधता को स्वीकृति देने ही के लिए कला-सृजन होता है। अत. कलाकार के जीवन-दर्शन मे हम उसका जीवनव्यापी दृष्टिकोण मात्र पा सकते है। जो सम-विषम परिस्थितियो की भीड मे नही मिल जाता, सरल-कठिन सघर्षो के मेले मे नही खो जाता और मधुर-कटु सुख-दुखो की छाया मे नही छिप जाता, वही व्यापक दृष्टिकोण कवि का दर्शन कहा जायगा। परन्तु ज्ञान-क्षेत्र और काव्यजगत् के दर्शन मे उतना ही अन्तर रहेगा, जितना दिशा की शून्य सीधी रेखा और अनन्त रग-रूपो से बसे हुए आकाश मे मिलता है।

काव्य की परिधि मे बाह्य और अन्तर्जगत् दोनो आ जाने के कारण, अभिव्यक्ति के स्वरूप मतभेदो को जन्म देते रहे है। केवल बाह्य-जगत् की यथार्थता काव्य का लक्ष्य रहे अथवा उस यथार्थ के साथ सम्भाव्य यथार्थ अर्थात् आदर्श भी व्यक्त हो, यह प्रश्न भी उपेक्षणीय नही। यथार्थ और आदर्श दोनो को यदि चरम सीमा पर रखकर देखा जाय, तो एक प्रत्यक्ष इतिवृत्त मे बिखर जायगा और दूसरा असम्भव कल्पनाओ मे बँध जायगा। ऐसे यथार्थ और आदर्श की स्थिति जीवन मे ही कठिन हो जाती है, फिर उसकी काव्य-स्थिति के सम्बन्ध मे क्या कहा जावे!

काव्य मे गोचर जगत् तो सहज स्वीकृति पा लेता है, पर स्थूल जगत् मे व्याप्त चेतन और प्रत्यक्ष सौन्दर्य मे अन्तर्हित सामजस्य की स्थिति बहुत सहज नही।

हमारे प्राचीन काव्य ने बौद्धिक तर्कवाद से दूर, उस आत्मानुभूत ज्ञान को स्वीकृति दी है, जो इन्द्रियजन्य ज्ञान-सा अनायास, पर उससे अधिक निश्चित और पूर्ण माना गया है। इस ज्ञान के आधार सत्य की तुलना, उस आकाश से की जा सकती है, जो ग्रहण शक्ति की अनुपस्थिति मे अपना शब्दगुण नही व्यक्त करता। इसी कारण ऐसे ज्ञान की उपलब्धि आत्मा के उस सस्कार पर निर्भर है, जो सामान्य सत्य को विशिष्ट सीमा मे ग्रहण करने की शक्ति भी देता है और उन सीमित ज्ञानानुभूति को जीवन की व्यापक पीठिका देने वाला सौन्दर्यबोध भी सहज कर देता है।

जैसे रूप, रस, गन्ध आदि की स्थिति होने पर भी, करण (इन्द्रिय) के

अभाव या अपूर्णता में, कभी उनका ग्रहण सम्भव नहीं होता और कभी वे अधूरे ग्रहण किये जाते हैं वैसे ही आत्मानुभूत ज्ञान आत्मा के संस्कार की मात्रा और उससे उत्पन्न ग्रहणशक्ति की सीमा पर निर्भर रहेगा। कवि को द्रष्टा या मनीषी कहने वाले युग के सामने यही निश्चित तर्कक्रम से स्वतन्त्र ज्ञान रहा।

यह ज्ञान व्यक्तिसामान्य नहीं, यह कहकर हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष जगत सम्बन्धी ज्ञान भी इतना सामान्य नहीं। विज्ञान का भौतिक ज्ञान ही नहीं नित्य का व्यवहार ज्ञान भी व्यक्ति की सापेक्षता नहीं छोड़ता। व्यक्तिगत रुचि संस्कार, पूर्वार्जित ज्ञान ज्ञान-करण की पूर्णता अपूर्णता अभाव आदि मिलकर स्थूल जगत् के ज्ञान को इतनी विविधता देते रहते हैं कि हम व्यक्ति के महत्व से ज्ञान का महत्व निश्चित करने पर बाध्य हो जाते हैं। जो ऊँचा सुनता या जो स्टेथेस्कोप की सहायता से फेफड़ों का अस्फुट शब्द मात्र सुनता है वे दोनो हमारे स्वर सामंजस्य के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष नहीं दे सकते। पर जो आहट की ध्वनि से लेकर मेघ के गर्जन तक सब स्वर सुनने की क्षमता भी रखता है और विभिन्न स्वरों में सामंजस्य लाने की साधना भी कर चुका है वही इस दिशा में हमारा प्रमाण है।

समाज नीति आदि से सम्बन्ध रखने वाले इन्द्रियानुभूत ज्ञान ही नहीं सूक्ष्म बौद्धिक ज्ञान के सम्बन्ध में भी अपने से अधिक पूर्ण व्यक्तियों को प्रमाण मानकर मनुष्य विश्वास करता आया है। अतः अध्यात्म के सम्बन्ध में ही ऐसा तर्कवाद क्यों महत्व रखेगा! फिर यह आत्मानुभूत ज्ञान इतना विच्छिन्न भी नहीं जितना समझा जाता है। साधारणतः तो प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी अंश तक इसका उपयोग करता रहता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ इस ज्ञान का वैसा ही अज्ञात सम्बन्ध और अव्यक्त स्पर्श है जैसा प्रकृति की प्रत्यक्ष और प्रशान्त निःस्पन्दता के साथ आँधी के अव्यक्त पूर्वाभास का हो सकता है जो स्थितिहीनता में भी स्थिति रखता है। इसके अव्यक्त स्पर्श का अनुभव कर अनेक बार मनुष्य प्रत्यक्ष प्रमाण, बौद्धिक निष्कर्ष और अनुकूल परिस्थितियों की सीमाएँ पार कर लेने के लिए विवश हो उठता है।

कठोर विज्ञानवादी के पास भी ऐसा बहुत कुछ बच जाता है जो कार्य कारण से नहीं बाँधा जा सकता स्थूलता के एकान्त उपासक के पास भी बहुत कुछ शेष रह जाता है जो उपयोग की कसौटी पर नहीं परखा जा सकता। और यदि केवल संख्या ही महत्व रखती हो तो संसार के सब कोनों में ऐसे व्यक्तियों की स्थिति सम्भव हो सकी है जो आत्मानुभूत ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध करते रहे।

लहर स होता है, पर विरूपता स हमारा वसा हो मिलन है, जसा पानी म फेंके हुये पत्थर और उससे उठी लहर म सहज है। सौन्दय चिरपरिचय म भी नवीन है पर विरूपता अति परिचय म नितान्त साधारण बन जाती है इसी स सौ दय की रहस्यानुभूति ही अतहीन का यक्या म नय परिच्छेद जोड़ता रहा है।

आधुनिक युग म कलाकार की सीमाये जानन क लिय जीवन व्यापी बाता वरण का विषमताओं स परिचित होना अपेक्षित रहगा।

हमारा सामाजिक परिस्थिति म अभी तक प्रतिक्रियात्मक ध्वस युग ही चल रहा है। उसके सम्बन्ध म ऐसा कोई स्वस्थ और पूण चित्र अकित नहीं किया जा सका, जिसे दृष्टि का केन्द्र बनाकर निर्माण का क्रम आरम्भ किया जा सकता। इस दिशा म हम अपन यक्तिगत स्वाथ और सुविधा क अनुसार ही तोड़ने फोडन का काय करते चलत हैं, अत कहा चट्टान पर सुनार की हथौड़ी का हल्का स्पश होता है और कही राख क ढर पर लोहार का गहरी चोट। क्या संस्कृति, क्या आदश सब म हमारी शक्तियो का विभिन्न जसा प्रयोग है इसी स जो टूट जाता है वह हमारी ही आँखो का किरकिरी बनने के लिए वायुमडल म मडरान लगता है और जो हमारे प्रहार स नही बिखरता वह विषम तथा विरूप बनकर हमारे ही परो को आहत और गति को कुण्ठित करता रहता है। निर्माण की दिशा मे किसी सामूहिक लक्ष्य के अभाव मे यक्तिगत प्रयास अराजकता के आकस्मिक उदाहरणो स अधिक महत्व नहीं पाते।

किसी भी उत्थानशील समाज और उसके प्रबुद्ध कलाकारो म जो सक्रिय सहयोग और परस्पर पूरक आदान प्रदान स्वाभाविक है वह हमारे समाज क लिए कल्पनातीत बन गया। समाज की एक बिन्दु पर अचलता और कलाकार की लक्ष्यहीन गति विह्वलता ने उस एक प्रकार स असामाजिक प्राणी की स्थिति मे डाल दिया है।

प्रत्यक सच्चे कलाकार की अनुभूति प्रत्यक्ष सत्य ही नहीं अप्रत्यक्ष सत्य का भी स्पश करती है, उसका स्वप्न वतमान ही नहीं अनागत को भी रूपरेखा म बाधता है और उसकी भावना यथाथ ही नहीं सम्भाव्य यथाथ को भी मूर्ति मत्ता देती है। परन्तु इन सबकी यक्तिगत और अनेक रूप अभिव्यक्तियाँ दूसरो तक पहुँचकर ही तो जीवन की समष्टिगत एकता का परिचय दने म समथ हैं।

कलाकार के निर्माण मे जीवन के निर्माण का लक्ष्य छिपा रहता है जिसकी स्वीकृति क लिये जीवन की विविधता आवश्यक होगी। जब समाज उसक किसी भी स्वप्न का मूल्य नहीं आँकता किसी भी आदश को जीवन की कसौटी पर

परखना स्वीकार नहीं करता, तब साधारण कलाकार तो सब कुछ धूल मे फेंक-कर रूठे बालक के समान क्षोभ प्रकट कर देता है और महान समाज की उप-स्थिति ही भुलाने लगता है। हमारी कला क्षेत्र मे जो एक उच्छृङ्खल गति है, उसके मूल मे निर्माण की सन्तुलित सक्रियता से अधिक, विवश क्षोभ की अस्थि-रता ही मिलेगी।

एक ओर समाज पक्षाघात से पीडित है और दूसरी ओर धर्म विक्षिप्त। एक चल ही नही सकता, दूसरा वृत्त के भीतर वृत्त बनाता हुआ एक पैर मे दौड लगा रहा है। गर्म और ठण्ढे जल से भरे पात्रो की निकटता जैसे उनका तापमान एक-सा कर देती है, उसी प्रकार हमारे धर्म और समाज की सापेक्ष स्थिति, उन्हे एक-सी निर्जीवता देती रहती है। आज तो बाह्य और आन्तरिक विकृति ने धर्म को ऐसी परिस्थिति मे पहुँचा दिया है, जहाँ रूढिग्रस्त रहने का नाम निष्ठा और रीतिकालीन प्रवृत्तियो की चचल क्रीडा ही गतिशीलता है। इतना ही नही, इस स्वर्ग के खँडहर का द्वारपाल अर्थ बन गया है। कलाकार यदि धर्म के क्षेत्र मे प्रवेश चाहे तो उसे हाथी पर गगायमुनी काम की अम्बारी मे जाना होगा, जो उसकी निर्धनता मे सम्भव नही।

हमारी सस्कृति ने धर्म और कला का ऐसा गन्थिबन्धन किया था, जो जीवन से अधिक मृत्यु मे दृढ होता गया। क्या काव्य, क्या मूर्ति, क्या चित्र सब की यथार्थ रेखाओ और स्थूल रूपो मे अध्यात्म ने सूक्ष्म आदर्श की प्रतिष्ठा की। परन्तु जब ध्वस के असख्य स्तरो के नीचे दबकर वह अध्यात्म-स्पन्दन रुक गया, तब धर्म के निर्जीव ककाल मे हमे मृत्यु का ठढा स्पर्श मिलने लगा।

शरीर को चलाने वाली चेतना का अशरीरी गमन तो प्रत्यक्ष नही होता, परन्तु उसके अभाव मे अचल शरीर का गल गल कर नष्ट होना प्रत्यक्ष भी रहेगा और वातावरण को दूषित भी करेगा। समन्वयात्मक अध्यात्म कब खो गया, यह तो हम न जान सके, परन्तु व्यावहारिक धर्म की विविध विकृतियाँ हमारे जीवन के साथ रही। ऐसी स्थिति मे काव्य तथा कलाओ की स्वस्थ गतिशीलता असम्भव हो उठी। निर्माण-युग मे जो कलासृष्टि अमृत की सजीवनी देकर ही सफल हो सकती थी, वही पतन-युग मे मदिरा की उत्तेजना मात्र बन-कर विकासशील मानी गयी। मदिरा का उपयोग तो स्वय को भुलाने के लिए है, स्मरण करने के लिए नही और जीवन का सृजनात्मक विकास अपनेपन की चेतना मे ही सम्भव है। परिणामत कलाएँ और काव्य जैसे-जैसे हममे विक्षिप्त की चेष्टाएँ भरने लगे, वैसे वैसे हम विकास-पथ पर लक्ष्यभ्रष्ट होते गये।

जागरण के प्रथम चरण मे हमारी राष्ट्रीयता ने अपनी व्यापकता के लिए

गुणों की खोजना पथ का प्रयास है। उनकी स्थिति तो उस रोग के समान है जो जितना अधिक स्थान घेरता है, उतना ही अधिक स्वास्थ्य का अभाव प्रकट करता है और जैसे जैसे तीव्र होता है वैसे-वैसे जीवन के संकट का निमापक बनता जाता है। नितान्त निर्धन बुद्धिजीवी वर्ग जैसे एक ओर उच्च वर्ग की आकांक्षा दूसरी ओर अभाव की पिपासाओं से दबकर टूट जाता है उसी प्रकार सर्वथा समृद्ध भी, उच्चता जनित गर्व और सुविधाओं के दृढ़ साँचे में पथराता रहता है।

जिस बुद्धिजीवी वर्ग को इस विराट् पर निश्चेष्ट जाति का मस्तिष्क बनने का अधिकार है उसने धनजीवी की सुखलिप्सा और अपने समाज की संकीर्णता के साथ ही नव जागरण को स्वीकृति दी है। अतः एक शरीर में दो प्रेतात्माओं के समान उसके जीवन में दो भिन्न प्रवृत्तियाँ उछल-कूद मचाती रहती हैं। विषमताओं से उत्पन्न और संकीर्णता से पोषित स्वभाव को, इस युग की विशेषताओं ने ऐसा रूप दे दिया है, जिसमें पुरातन स्वार्थ घनीभूत है और नवीन ज्ञान पुंजीभूत।

विज्ञान के चरम विकास ने हमारी आधुनिकता को एकांगी बुद्धिवाद में इस तरह सीमित किया है कि आज जीवन के किसी भी आदर्श को उसके निरपेक्ष सत्य के लिए स्वीकार करना कठिन है। परिणामतः एक निस्सार बौद्धिक उलझन भी हमारे हृदय की सम्पूर्ण सरल भावनाओं से अधिक सारवती जान पड़े तो आश्चर्य ही क्या है! इस ज्ञान व्यवसायी युग में बिना स्थायी पूँजी के ही सिद्धान्तों का व्यापार सट्टा हो गया है अतः न अब हम किसी विश्वास का खरापन जाँचने के लिए अपने जीवन को कसौटी बनाना पड़ता है और न किसी आदर्श का मूल्य आँकने के लिए जीवन की विविधता समझने की आवश्यकता होती है। हमारा निखरा जीवन इतना व्यक्ति प्रधान है कि प्रायः वैयक्तिक भ्रान्तियाँ भी समष्टिगत सत्य का स्थान ले लेती हैं और स्वार्थ-साधन के प्रयास ही व्यापक गतिशीलता के पर्याय बन जाते हैं।

जहाँ तक जीवन का प्रश्न है उस सजीवता के अभाव में स्पन्दन का न बुद्धि वादी को अवकाश है न इच्छा। वह तो उस दर्पण की छाया के समान स्पर्श से दूर रहकर दर्शन का अभ्यास करते-करते स्वयं इतना निर्लिप्त हो गया है कि उस ज्ञान का रजिस्टर मात्र रहना चाहिए। जीवन के व्यापक स्पन्दन से वह जितना दूर हटता जाता है उतना ही विकास के सूत्रों से अपरिचित बनता जाता है। और अन्त में उसकी भारी पर अभावात्मक ज्ञान उसी के जीवन की उष्णता को एक दबा रखा है जैसे दाहगी-सी चिनगारी को राख का ढेर। आज

की आवश्यकताओ के अनुसार वह ससार भर के सम्बन्ध मे बहुत कुछ ज्ञातव्य जानता है। परन्तु अपनी धरती की अनुभूति के बिना यह ज्ञान-बीज घुनते रहने के लिए ही उनके मस्तिष्क की सारी सीमा घेरे रहते है।

हमारे बुद्धिजीवी वर्ग मे अधिकाश तो मानसिक हीनता की भावना मे ही पलते और बढते है। उनका बाह्य जीवन ही, समुद्र पार के कतरे-ब्योते आच्छादनो से अपनी नग्नता नही छिपाये है, अन्तर्जगत को भी वही से लोहार की धौंकनी जैसा स्पन्दन मिल रहा है। उनका पगु से पगु स्वप्न भी विदेशी पख लगा लेने पर स्वर्ग का सन्देश-वाहक मान लिया जाता है। उनका विरूप से विरूप आदर्श भी पश्चिमीय साचे मे ढलकर सुन्दरतम के अतिरिक्त और कोई सज्ञा नही पाता। उनका मूल्यहीन से मूल्यहीन सिद्धान्त भी दूसरी सस्कृति की छाया का स्पर्श करते ही पारसो का शिरोमणि कहलाने लगता है। उनका दरिद्र से दरिद्र विचार भी देशी परिधान मे विदेशी पेवन्द लगाकर समस्त विचार-जगत का एकछत्र सम्राट स्वीकार कर लिया जाता है।

ऐसे अव्यवस्थित बुद्धिजीवियो मे सस्कृति की रेखाए टूटी हुई और जीवन का चित्र अधूरा ही मिलेगा।

केवल श्रम ही जिसे स्पन्दन देता है, उस विशाल मानवसमूह की कथा कुछ दूसरी ही है। बुद्धिजीवियो से उसका सम्पर्क छूटे हुए कितना समय बीता होगा, इसका अनुमान, बिन्दु बिन्दु से समुद्र बने हुए उसके अज्ञान और तिल तिल करके पहाड बने हुए उसके अभावो से लगाया जा सकता है। आज उसकी जडता की खाई इतनी गहरी और चौडी हो गयी है कि बुद्धिजीवी उस ओर झॉकने के विचार मात्र से सभीत हो जाता है, पार करना तो दूर की बात है।

साधारणत शारीरिक श्रम और बुद्धि-व्यवसाय एक दूसरे की गति के अवरोधक है, इसी से प्राय विचारो की उलझन से छुटकारा पाने का इच्छुक एक न एक श्रम का कार्य आरम्भ कर देता है। इसके अतिरिक्त और भी एक स्पष्ट अन्तर है। बुद्धि जीवन को सूक्ष्मता से स्पर्श करती है, परन्तु उसकी सम्पूर्णता पर एक व्यापक अधिकार बनाये रखना नही भूलती। इसके विपरीत, श्रम पूरा भार डाल कर ही जीवन को अपना परिचय देता है, परन्तु उसकी सम्पूर्णता को सब ओर से नही घेरता। प्राय बुद्धि-व्यवसाय जितनी शीघ्रता से जीवनीशक्ति का क्षय कर सकता है, उतनी शीघ्रता की क्षमता श्रम मे नही। इसी से जीवन के व्यावहारिक धरातल पर, बुद्धिव्यवसायी का कुछ शिथिल और अस्तव्यस्त मिलना जितना सम्भव है श्रमिक का दृढ और व्यवस्थित रहना उतना ही निश्चित। नैतिकता की दृष्टि से भी श्रम मनुष्य को नीचे गिरने की इतनी

गुणों का खोजना व्यर्थ का प्रयास है। उनकी स्थिति तो उस रोग के समान है, जो जितना अधिक स्थान घेरता है उतना ही अधिक स्वास्थ्य का अभाव प्रकट करता है और जैसे जैसे तीव्र होता है वैसे वैसे जीवन के संकट का विज्ञापन बनता जाता है। नितान्त निर्धन बुद्धिजीवी वर्ग जैसे एक ओर उच्च बनने की आकांक्षा दूसरी ओर अभाव की शिलाओं से दबकर टूट जाता है उसी प्रकार सर्वथा समृद्ध भी उच्चता जनित गर्व और सुविधाओं के टूटे साँचे में पथराता रहता है।

जिस बुद्धिजीवी वर्ग को इस विराट् पर निश्चेष्ट जाति का मस्तिष्क बनने का अधिकार है उसने धनजीवी की सुखलिप्सा और अपने समाज की संकीर्णता के साथ ही नव जागरण की स्वीकृति दी है। अतः एक शरीर में दो प्रेतात्माओं के समान उसके जीवन में दो भिन्न प्रवृत्तियाँ उछल-कूद मचाती रहती हैं। विषमताओं से उत्पन्न और संकीर्णता से पोषित स्वभाव का इस युग की विशेषताओं ने ऐसा रूप दे दिया है जिसमें पुराना स्वार्थ घनीभूत है और नवीन ज्ञान पुञ्जीभूत।

विज्ञान के चरम विकास ने हमारी आधुनिकता को एकांगी बुद्धिवाद में इस तरह सीमित किया है कि आज जीवन के किसी भी आदर्श को उसके निरपेक्ष सत्य के लिए स्वीकार करना कठिन है। परिणामतः एक निस्सार बौद्धिक उलझन भी हमारे हृदय की सम्पूर्ण सरल भावनाओं से अधिक सारवती जान पड़े तो आश्चर्य ही क्या है! इस ज्ञान व्यवसायी युग में बिना स्थायी पूँजी के ही सिद्धान्तों का व्यापार सहज हो गया है अतः न अब हमें किसी विश्वास का खरापन जाँचने के लिए अपने जीवन को कसौटी बनाना पड़ता है और न किसी आदर्श का मूल्य आँकने के लिए जीवन की विविधता समझने की आवश्यकता होती है। हमारा बिखरा जीवन इतना व्यक्ति प्रधान है कि प्रायः वैयक्तिक भ्रान्तियाँ भी समष्टिगत सत्य का स्थान ले लेती हैं और स्वार्थ-साधन के प्रयास ही व्यापक गतिशीलता के पर्याय बन जाते हैं।

जहाँ तक जीवन का प्रश्न है उसे सजीवता के वैभव में देखने का न बुद्धिवादी को अवकाश है न इच्छा। वह तो उसे दर्पण की छाया के समान स्पर्श से दूर रखकर देखने का अभ्यास करते करते स्वयं इतना निर्लिप्त हो गया है कि उसे ज्ञान का रजिस्टर मात्र कहना चाहिए। जीवन के व्यापक स्पन्दन से वह जितना दूर हटता जाता है उतना ही विकास के मूलतत्वों से अपरिचित बनता जाता है। और अन्त में उसका भारी पर अज्ञानात्मक ज्ञान उसी के जीवन की उष्णता को ऐसे दबा देता है जैसे छोटी-सी चिनगारी को राख का ढेर। आज

आवश्यकताओं के अनुसार वह संसार भर के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञातव्य
नता है। परन्तु अपनी धरती की अनुभूति के बिना यह ज्ञान-बीज घुनते
लें के लिए ही उनके मस्तिष्क की सारी सीमा घेरे रहते हैं।

हमारे बुद्धिजीवी वर्ग में अधिकांश तो मानसिक हीनता की भावना में ही
ाते और बढते हैं। उनका बाह्य जीवन ही, समुद्र पार के कतरे-ब्योते आच्छा-
ों से अपनी नग्नता नहीं छिपाये है, अन्तर्जगत को भी वहीं से लोहार की
कनी जैसा स्पन्दन मिल रहा है। उनका पगु से पगु स्वप्न भी विदेशी पंख
गा लेने पर स्वर्ग का सन्देश-वाहक मान लिया जाता है। उनका विरूप से
रूप आदर्श भी पश्चिमीय साँचे में ढलकर सुन्दरतम के अतिरिक्त और कोई
ा नहीं पाता। उनका मूल्यहीन से मूल्यहीन सिद्धान्त भी दूसरी संस्कृति
ी छाया का स्पर्श करते ही पारसों का शिरोमणि कहलाने लगता है। उनका
रिद्र से दरिद्र विचार भी देशी परिधान में विदेशी पेवन्द लगाकर समस्त
िचार-जगत का एकछत्र सम्राट स्वीकार कर लिया जाता है।

ऐसे अव्यवस्थित बुद्धिजीवियों में संस्कृति की रेखाएँ टूटी हुई और जीवन
ा चित्र अधूरा ही मिलेगा।

केवल श्रम ही जिसे स्पन्दन देता है, उस विशाल मानवसमूह की कथा कुछ
सरी ही है। बुद्धिजीवियों से उसका सम्पर्क छूटे हुए कितना समय बीता होगा,
सका अनुमान, बिन्दु बिन्दु से समुद्र बने हुए उसके अज्ञान और तिल तिल
रके पहाड़ बने हुए उसके अभावों से लगाया जा सकता है। आज उसकी
डता की खाई इतनी गहरी और चौड़ी हो गयी है कि बुद्धिजीवी उस ओर
ाँकने के विचार मात्र से सभीत हो जाता है, पार करना तो दूर की बात है।

साधारणत शारीरिक श्रम और बुद्धि-व्यवसाय एक दूसरे की गति के
वरोधक है, इसी से प्राय विचारों की उलझन से छुटकारा पाने का इच्छुक
क न एक श्रम का कार्य आरम्भ कर देता है। इसके अतिरिक्त और भी एक
पष्ट अन्तर है। बुद्धि जीवन को सूक्ष्मता से स्पर्श करती है, परन्तु उसकी
म्पूर्णता पर एक व्यापक अधिकार बनाये रखना नहीं भूलती। इसके विपरीत,
्रम पूरा भार डाल कर ही जीवन को अपना परिचय देता है, परन्तु उसकी
म्पूर्णता को सब ओर से नहीं घेरता। प्राय. बुद्धि-व्यवसाय जितनी शीघ्रता से
ीवनीशक्ति का क्षय कर सकता है, उतनी शीघ्रता की क्षमता श्रम में नहीं।
सी से जीवन के व्यावहारिक धरातल पर, बुद्धिव्यवसायी का कुछ शिथिल और
स्तव्यस्त मिलना जितना सम्भव है श्रमिक का दृढ और व्यवस्थित रहना उतना
ी निश्चित। नैतिकता की दृष्टि से भी श्रम मनुष्य को नीचे गिरने की इतनी

स्पर्श अपेक्षित था जो फूल को समीर से मिलता है—सजीव, निश्चित पर व्यापक। जिस समाज मे उनकी स्वाभाविक स्थिति थी, वह विषमताओ मे बिखर चुका था, उससे ऊँचे वर्ग के अहकार और कृत्रिमता ने उससे परिचय असम्भव कर दिया था और निम्न मे उतरने पर उन्हे आभिजात्य के खो जाने का भय था। फलत उन्होने अपने एकाकीपन के शून्य को, अपनी ही प्यास की आग और निराशा के पाले से, इस तरह भर लिया कि उनका हर स्वप्न मुकुलित होते ही झुलस गया और प्रत्येक आदर्श अकुरित होते ही ठिठुर चला।

बीज केवल अकेले रहने के लिए, अन्य बीजो की समष्टि नही छोड़ता। वह तो नूतन समष्टि सम्भव करने के लिए ही ऐसी पृथक स्थिति स्वीकार करता है। यदि वही बीज पुरानी धरती और सनातन आकाश की अवज्ञा करके, अपनी असाधारणता बनाये रखने के लिए वायु पर उडता ही रहे तो ससार के निकट अपना साधारण परिचय भी खो बैठेगा।

कवि, कलाकार साहित्यकार सब, समष्टिगत विशेषताओ को नव नव रूपो मे साकार करने के लिए ही उससे कुछ पृथक खडे जान पडते है, परन्तु यदि वे अपनी असाधारण स्थिति को, जीवन की व्यापकता मे साधारण न बना सके तो आश्चर्य की वस्तुमात्र रह जायँगे। महान् से महान् कलाकार भी हमारे भीतर कौतुक का भाव न जगाकर एक परिचय भरा अपनापन ही जगायेगा, क्योकि वह धूमकेतु-सा आकस्मिक और विचित्र नही, किन्तु ध्रुव-सा निश्चित और परिचित रह कर ही हमे मार्ग दिखाने मे समर्थ है।

आज कलाकार समष्टि का महत्व समझता है, परन्तु इस बोध के साथ भी उसके सम्पूर्ण जीवन की स्वीकृति नही है। बौद्धिक धरातल पर चिर उपेक्षित मानवो की प्रतिष्ठा करते समय उसे अपनी विशालता की जितनी चेतना है, उतनी अपने देवताओ की नही। ऐसी स्थिति बहुत स्पृहणीय नही, क्योकि वह सिद्धान्तो को व्यापार का सहज साधन बन जाने की सुविधा दे देती है। जीवन के स्पन्दन से शून्य होकर सिद्धान्त जब धर्म, समाज, नीति आदि की सकीर्ण पीठिका पर प्रतिष्ठित हो जाते है तब वे व्यवसाय-वृत्ति को जैसी स्वीकृति देते है वैसी जीवन के विकास को नही दे पाते। साहित्य, काव्य आदि के धरातल पर भी इस नियम का अपवाद नही मिलेगा।

नवीन साहित्यकार और कवि के बुद्धिवैभव और अनुभूति की दरिद्रता ने, ऐसी क्रियाशीलता को जन्म दे दिया है जो सिद्धान्तो को माँज धोकर रात-दिन चमकाती रहती है, पर जीवन मे जग लग जाने देती है। वे अपने जीवन से बिना कुछ दिये ही एक पक्ष से सब कुछ ले आना चाहते है और दूसरे को, बहुत मूल्य

का—एक उसको विश्व से बाँध रखता है तो दूसरा उसे कल्पना-द्वारा उडाता ही रहना चाहता है।

जड चेतन के विना विकास शून्य है और चेतन जड के विना आकार-शून्य। इन दोनो की क्रिया और प्रतिक्रिया ही जीवन है। चाहे कविता किसी भाषा मे हो चाहे किसी 'वाद' के अन्तर्गत, चाहे उसमे पार्थिव विश्व की अभिव्यक्ति हो चाहे अपार्थिव की और चाहे दोनो के अविच्छिन्न सम्बन्ध की, उसके अमूल्य होने का रहस्य यही है कि वह मनुष्य के हृदय से प्रवाहित हुई है। कितनी ही भिन्न परिस्थितियो मे होने पर भी हम हृदय से एक ही है, यही कारण है कि दो मनुष्यो के देश, काल, समाज आदि मे समुद्र के तटो जैसा अन्तर होने पर भी वे एक दूसरे के हृदयगत भावो को समझने मे समर्थ हो सकते है। जीवन की एकता का यह छिपा हुआ सूत्र ही कविता का प्राण है। जिस प्रकार वीणा के तारो के भिन्न स्वरो मे एक प्रकार की एकता होती है, जो उन्हे एक साथ मिलकर चलने की और अपने साम्य से सगीत की सृष्टि करने की क्षमता देती है, उसी प्रकार मानव हृदयो में एकता छिपी हुई है। यदि ऐसा न होता तो विश्व का सगीत ही वेसुरा हो जाता।

फिर भी न जाने क्यो हम लोग अलग अलग छोटे छोटे दायरे बनाकर उन्ही मे बैठे बैठे सोचा करते है कि दूसरा हमारी पहुँच से बाहर है। एक कवि विश्व का या मानव का बाह्य-सौंदर्य देखकर सब कुछ भूल जाता है, सोचता है उसके हृदय से निकला हुआ स्वर अलग एक संगीत की सृष्टि करेगा; दूसरा विश्व की आन्तरिक वेदनाबहुल-सुषमा पर मतवाला हो उठता है, समझता है उसके हृदय से निकला हुआ स्वर सबसे अलग एक निराले सगीत की सृष्टि कर लेगा। परन्तु वे नही सोचते कि उन दोनो के स्वर मिलकर ही विश्व-सगीत की सृष्टि कर रहे हैं।

मनुष्य चाहे प्रकृति के जड उपादानो का संघात विशेष माना जावे और चाहे किसी व्यापक चेतना का अशभूत, परन्तु किसी भी अवस्था मे उसका जीवन इतना सरल नही है कि हम उसकी पूर्ण तृप्ति के लिए गणित के अको के समान एक निश्चित सिद्धान्त दे सकें। जड द्रव्य से अन्य पशु तथा वनस्पति-जगत के समान ही उसका शरीर निर्मित और विकसित होता है, अत प्रत्यक्ष रूप से उसकी स्थिति बाह्य जगत् मे ही रहेगी और प्राणिशास्त्र के सामान्य नियमो से सचालित होगी। यह सत्य है कि प्रकृति मे जीवन के जितने रूप देखे जाते है, मनुष्य उनमे इतना विशिष्ट जान पडता है कि सृजन की स्थूल समष्टि मे भी उसका निश्चित स्थान खोज लेना कठिन हो जाता है; परन्तु इस कठि-

शासन के रंग मंच पर नई शक्ति का आविर्भाव होने से काव्य के केन्द्र का बदलना क्या सम्भव हो गया इसे हम जानते ही हैं, परन्तु नाश से की पुनरावृत्ति भी अनात की पुनरावृत्ति नहीं होती। यह तो स्पष्ट ही है कि न्यागत शासकसत्ता के दृष्टिकोण में धार्मिक कट्टरता न होकर व्यावसायिक लाभ प्रधान रहा और व्यवसायी दूसरे पक्ष को न सतर्क प्रतिद्वन्द्वी बनाना चाहता है न सजग शत्रु। विरोध में दो ही स्थितियाँ सम्भव हैं। यदि विपक्ष सबल है तो जय के लिए निरंतर संघर्ष करता रहेगा और यदि निर्बल है तो पराजित होकर द्वेष से जलता और षड्यन्त्र रचता रहेगा। इसके अतिरिक्त व्यवसाय के लिए संख्या भी विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि सम्पन्न से दरिद्र तक को घेर लेने की शक्ति ही व्यापारिक सफलता का मापदण्ड है। चतुर से चतुर व्यापारी भी केवल सम्राटों से व्यापार कर अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। अतः नवीन शासक वर्ग विजेता के समारोह के बिना ही एक चतुर अतिथि के समान हमारी देहली पर आ बैठा और आत्मकथा के बहाने अपनी संस्कृति के प्रति हमारे मन में ऐसी परिचयभरी ममता उत्पन्न करने लगा कि उसे आँगन में न बुला लाना कठिन हो गया। एक संस्कृति जो पाँच सौ वर्षों में न कर सकी उसे दूसरी ने डेढ़ सौ वर्षों में कितनी पूर्णता के साथ कर लिया है इसे देखना हो तो हम अपना अपना जीवन देख लें।

हमारे बाह्य अन्धानुकरण और मानसिक दासता के पीछे न कुछ क्षोभ है न खिन्नता। अतः यह तो मानना ही होगा कि वह नवागत विपक्षी परिचित पर विस्मृत मित्र की भूमिका में आया। इसके अतिरिक्त अतीत के निष्फल पर निरंतर संघर्ष से हम इतने द्वेष जर्जर और क्लान्त हो रहे थे कि तीसरी शक्ति की उपस्थिति हमारे लिए विराम जैसी सिद्ध हुई।

उसका धर्म भी भाले की नोक पर न आकर इन्जेक्शन की महीन सुइयों में आया, जिसका पता परिणाम में ही चल सकता था। इसी से जब एक बार इच्छाओं की राख में से रोष की चिनगारी कुरेदकर हमने संघर्ष की दावाग्नि उत्पन्न करनी चाही तब राख के साथ चिनगारी भी उड़ गयी।

इस प्रकार तात्कालिक रक्षा और निरन्तर संघर्ष का प्रश्न न रहने से सामन्त वर्ग का महत्त्व बाढ़ के जल के समान स्वयं ही घट गया। इतना ही नहीं वह वर्ग नवीन शासकसत्ता के साथ कुछ समझौता कर अपनी स्थिति को नये सिरे से निश्चित करने में व्यस्त हो गया। ऐसी दशा में कवि किसके इंगित पर व्यायाम करता और कविता किस मापा पर दरबार में नृत्य करता? परिवर्तनों के उस समारोह में काव्य ऐश्वर्य की कठिन रक्षा पार कर जीवन की सरल व्यापकता में

पथ खोजने लगा। सामान्य जीवन की स्वच्छता ने काव्य को, अर्थ ही नही धर्म-केन्द्रो ने भी इतना विमुख कर दिया कि आज कवि का सन्त होना सम्भाव्य माना जाता है, पर सन्त मे कवित्व अतीत की कथामात्र।

राजनीति मे उलझी और शासकसत्ता की ओर निरन्तर सतर्क दृष्टि को जब कुछ अवकाश मिला, तव वह धर्म और समाज को समय के साथ रखकर ठीक से देख सकी। हमारे धर्म के क्षेत्र मे नवीन प्रेरणाओ का अभाव नही रहा, परन्तु तत्कालीन शासक-सत्ता की दृष्टि धर्म-प्रधान होने के कारण वे किसी न किसी प्रकार राजनीति की परिधि मे आती रही और उससे उलझ-उलझकर अपनी विकासोन्मुख सक्रियता खोती रही। अन्त मे वाह्य विरोध और आन्तरिक रूढि-प्रियता ने धर्म को ऐसी स्थिति मे पहुँचा दिया, जहाँ वह काव्य को नयी स्फूर्ति देने मे असमर्थ हो गया।

वदली राजनीतिक परिस्थितियो मे धर्म और समाज के क्षेत्रो मे सुधारको का जो आविर्भाव हुआ है, उसे ध्यान मे रखकर ही हम खडी वोली के आदि युग की काव्य-प्रेरणाओ का मूल्य आँक सकेगे, क्योकि उन सव की मूलप्रवृत्तियाँ एक है, साधन चाहे जितने भिन्न रहे हो।

शून्य मे व्याप्त स्वरो को रागिनी की निश्चित रूप-रेखा देनेवाली वीणा के समान हमारे जागरण-युग ने जिस परिवर्तन को काव्य की रूप-रेखा मे स्पष्ट किया, वह उसके पूर्वगामी युग मे भी अशरीरी आभास देता रहा था। यदि वह युग सुधार का सहचर न होकर कला का सहोदर होता, तो सम्भवत उसके आदर्शवाद मे वोलनेवाले यथार्थ की कथा कुछ और होती। पर एक ओर काव्य की जड परम्परा की प्रतिक्रिया मे उत्पन्न होने के कारण और दूसरी ओर वाता-वरण मे मँडराती हुई विपमताओ के कारण वह इतनी उग्र सतर्कता लेकर चला कि कला की सीमा-रेखाओ पर उसने विश्राम ही नही किया। पर यदि नवीन प्रयोग काव्य मे जीवन के परिचायक माने जावे तो वह युग वहुत सजीव है और यदि विपय की विविधता काव्य की समृद्धि का मापदण्ड हो सके तो वह युग वहुत सम्पन्न है।

राष्ट्र की विशाल पृष्ठभूमि पर, प्रान्तीय भापाओ की अवज्ञा न करते हुए राजनीतिक दृष्टि से भापा का जो प्रश्न आज सुलझाया जा रहा है, वह हमे खडी वोली के उन साहसी कवियों का अनायास ही स्मरण करा देता है, जिन्होने काव्य की सीमित पीठिका पर, राम-कृष्ण-काव्य की धात्री देशी भापाओ का अनादर न करते हुए भी, साहित्यिक दृष्टि से भापा की अनेकता मे एकता का प्रश्न हल किया था।

की में की भाषा बदलना सहज नहीं होता और वह भी उस समय जब पूर्वगामी भाषा अपने माधुर्य में अजेय हो, क्योंकि एक तो नवीन अनगढ़ शब्दों में काव्य की उत्कृष्टता की रक्षा कठिन हो जाती है दूसरे उत्कृष्टता के अभाव में प्राचीन का अभ्यस्त युग उसके प्रति विरक्त होने लगता है।

और छन्द तो भाषा के सौन्दर्य की सीमाएं है अतः भाषा विशेष से भिन्न करके उनका मूल्यांकन असम्भव हो जाता है। वे प्रायः दूसरी भाषा की सुडौलता को सब ओर से स्पर्श नहीं कर पाते इसी से या तो उसे अपने बन्धनों के अनुरूप काट छाँट कर बेडौल कर देते हैं या अपनी निश्चित सीमा रेखाओं को कहीं दूर तक फैलाकर और वहाँ गतिरोध कर अपने नाद सौन्दर्य सम्बन्धी लक्ष्य ही से बहुत दूर पहुंच जाते हैं।

तद्भव और अपभ्रंश शब्दों के स्थान में शुद्ध संस्कृत शब्दों को प्रधानता देनेवाली खड़ी बोली के लिए उस युग ने वही छन्द चुने जो संस्कृतकाव्य में उन शब्दों का भार ही नहीं सम्भाल चुके थे नाद-सौन्दर्य की कसौटी पर भी परखे जाकर खरे उतर चुके थे। विषय की दृष्टि से उस काव्य युग के पास जो चित्रशाला है, उसका विस्तार यदि विस्मित कर देता है तो विविधता कौतूहल का आधार बनती है। उसमें पौराणिक गाथाएं बोलती हैं और साधारण दृष्टान्त कथाएं मुखर हैं। अतीत का गौरव गाता है और वर्तमान विकृतियां के क्रन्दन का स्वर भटराता है। कृषक श्रमजीवी आदि का श्रम निमन्त्रण देता है और अत्याचारी की व्यथा पुकारती है। शापमुक्त पाषाणी के समान परम्परागत जड़ता से छूटी हुई प्रकृति सबको अपने जीवित होने की सूचना सी देती भटकती है और भारतीयता से प्रभावित जातीयता उदात्त मन्द्र स्वरों में अलख जगाता है।

आज की राष्ट्रीयता उस युग की वस्तु नहीं है। तब तक एक ओर तो उस संस्कृति के प्रति हमारी भावनाएं विकसित नहीं हुई थीं जिसके साथ हमारा संघर्ष दीर्घकालीन रहा और दूसरी ओर वर्तमान शासकसत्ता की नीतिमत्ता का ऐसा परिचय नहीं मिला था जिससे हम उसके प्रति तीव्र असन्तोष का अनुभव करते। भारतेन्दु युग में भी जातीयता ही राष्ट्रीयता का स्थान भरे रही है। ऐसी स्थिति में शासकसत्ता की प्रशस्तियाँ मिलना भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता परन्तु इस प्रवृत्ति की वस्तुस्थिति से भिन्न करके देखने पर हम इसका वह अर्थ लगा लेते हैं जो अर्थ में विपरीत है।

जहाँ एक हूक उन्ने प्रकाश के समान उग्र और साधन-सम्पन्न उस युग को देखकर यह प्रश्न स्वाभाविक हो जाता है कि उसके सतर्क यथार्थ और

उपासक का होना है। जो खण्डित है विकलाग है, वह देवता की प्रतिच्छवि नही, फलत पूजा के योग्य भी नही माना जाता पर उपासक उसके स्थान म पूर्ण और अखण्ड की प्रतिष्ठा करके उस जल म प्रवाहित कर आता है, चरण पीठ नही बना लेता।

कलाकार भी सौदय की खण्डित और विकलाग प्रतिमाओ को समय क प्रवाह म छोडकर उनके स्थान म पूर्ण और अखण्ड को प्रतिष्ठित करना चाहता है। सौदय के मदिर म ऐसा कुछ नही है जो पैरो से कुचला जा सक। जिस युग मे कलाकारो की ऐसी अस्वाभाविक इच्छा रहती है वह युग पूर्ण सौदय प्रतिमा म अपने आपको साकार करके आगत युगो के लिए नही छोड जाता।

परिस्थितियो की विपमता ने हमारे जागरण-युग को, पिछले सौदयबोध की सकीर्णता की ओर इतना जागरूक रखा कि उसकी सुकुमार कल्पना और रगीन स्वप्नो को इतिवृत्तात्मकता की वर्दी पर आदश क कवच पहनकर जीवन सग्राम के लिए परेड करनी पडी और जिस दिन वे अपनी चुभनेवाली वेशभूषा फेंककर विद्रोही बनन लग उसी दिन एक ऐसे युग का आरम्भ हुआ जिसम व जीवन की पीठिका पर चक्रवर्ती बन बठे और अपनी पिछली दासता का प्रति शोध लेने लगे।

वतमान आकाश स गिरी हुई सम्बधरहित वस्तु न होकर भूतकाल का ही बालक है, जिसके जम का रहस्य भूतकाल म ही ढूढा जा सकता है। हमारे छायावाद के जम का रहस्य भी ऐसा ही है। मनुष्य का जीवन चक्र की तरह घूमता रहता है। स्वच्छद घूमते घूमते थककर वह अपन लिए सहस्र बधनो का आविष्कार कर डालता है और फिर बधनो से ऊबकर उनको तोडन म अपनी सारी शक्तियाँ लगा देता है। छायावाद के जम का मूल कारण भी मनुष्य क इसी स्वभाव मे छिपा हुआ है। उसके जम स प्रथम कविता क बधन सीमा तक पहुच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति क लिए रो उठा। स्वच्छद छद म चित्रित उन मानव अनुभूतियो का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।

उन छायाचित्रो को बनान क लिए और भी कुशल चितेरो की आवश्यकता होती है कारण उन चित्रो का आधार छून या पकडने म आने की वस्तु नहीं। यदि वे मानव हृदय म छिपी हुई एकता के आधार पर उनकी सवदना का रग चढ़ाकर न बनाये जायें तो व प्रतछाया क समान लगन लगें या नहीं इसम कुछ ही सन्देह है।

प्रकाश-रेखाओ के मार्ग मे विखरी हुई वदलियो के कारण जैसे एक ही विस्तृत आकाश के नीचे हिलोरे लेनेवाली जल-राशि मे कही छाया और कही आलोक का आभास मिलने लगता है उसी प्रकार हमारी एक ही काव्यधारा अभिव्यक्ति की भिन्न शैलियो के अनुसार भिन्नवर्णी हो उठी है।

आज तो कवि धर्म के अक्षयवट और दरवार के कल्पवृक्ष की छाया वहुत पीछे छोड आया है। परिवर्तनो के कोलाहल मे काव्य जव से मुकुट और तिलक से उतरकर मध्य वर्ग के हृदय का अतिथि हुआ तव से आज तक वही है और सत्य कहे तो कहना होगा कि उस हृदय की साधारणता ने कवि के नेत्रो से वैभव की चकाचौध दूर कर दी और विषाद ने कवि को धर्मगत सकीर्णताओं के प्रति असहिष्णु वना दिया।

छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है, जो मूर्त्त और अमूर्त्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति मे विखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति प्राप्त की और दोनो के साथ स्वानुभूत सुख दु खो को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी, जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामो का भार सँभाल सकी।

छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्वन्ध में प्राण डाल दिये, जो प्राचीन काल से विम्व-प्रतिविम्व के रूप मे चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दु ख मे प्रकृति उदास और सुख मे पुलकित जान पडती थी। छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि मे भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपो मे प्रकट एक महाप्राण वन गयी, अत अव मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस-विन्दुओ का एक ही कारण, एक ही मूल्य है। प्रकृति के लघु तृण और महान वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलाएँ, अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड अन्धकार और उज्ज्वल विद्यु त्-रेखा, मानव की लघुता-विशालता, कोमलता-कठोरता, चचलता-निश्चलता और मोह-ज्ञान का केवल प्रतिविम्व न होकर एक ही विराट् से उत्पन्न सहोदर है।

किन्तु विज्ञान से समृद्ध भौतिकता की ओर उन्मुख वुद्धिवादी आधुनिक युग ने हमारी कविता के सामने एक विशाल प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है, विशेपकर उस कविता के सामने जो व्यक्त जगत् मे परोक्ष की अनुभूति और आभास से रहस्य और छायावाद की सज्ञा पाती आ रही है।

यह भावधारा मूलत नवीन नही है, क्योकि इसका कही प्रकट और कही

छिपा सूत्र हम अपने साहित्य की सीमान्त रेखा तक पाते हैं। कारण स्पष्ट है। किसी भी जाति की विचार सरणि, भाव-पद्धति जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण आदि उसकी संस्कृति से प्रसूत होते हैं। परन्तु संस्कृति की कोई एक परिभाषा देना कठिन हो सकता है क्योंकि न वह किसी जाति की राजनीतिक व्यवस्था मात्र होता है और न केवल सामाजिक चेतना न उसे नैतिक मर्यादा मात्र कह सकते हैं और न केवल धार्मिक विश्वास। देश विशेष के जलवायु में विकसित जाति विशेष के अन्तर्जगत् और बाह्य जीवन का वह ऐसा समष्टिगत चित्र है जो अपने गहरे रंगों में भी अस्पष्ट और सीमा में भी असीम है—वैसे ही जैसे हमारे आँगन का आकाश। यह सत्य है कि संस्कृति की बाह्य रूपरेखा बदलती रहती है परन्तु मूल तत्वों का बदल जाना तब तक सम्भव नहीं होता जब तक उस जाति के पैरों के नीचे से वह विशेष भूखण्ड और उसे चारों ओर से घेरे रहनेवाला वह विशिष्ट वायुमण्डल ही न हटा लिया जावे।

जहाँ तक इतिहास की किरणें नहीं पहुँच पाती उसी सुदूर अतीत में जो जाति इस देश में आकर बस गयी थी जहाँ न बर्फ के तूफान आते थे न रेत के बवण्डर न आकाश निरन्तर ज्वाला बरसाता रहता था और न अविराम रोता न तिल भर भूमि और पल भर के जीवन के लिए मनुष्य को प्रकृति से संघर्ष होता था न हार उस जाति की संस्कृति अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व रखती है। सुजला सुफला शस्यश्यामला पृथ्वी के अंक में मलय समीर के झोकों में झूलते हुए मुस्कराती नदियों की तरंग भंगिमा में गति मिलाकर उन्मुक्त आकाशचारी विहगों के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर मनुष्य ने जिस जीवन का निर्माण किया, जिस कल्पना और भावना का विस्तार किया जिस सामूहिक चेतना का प्रसार किया और जिन अनुभूतियों की अभिव्यंजना की उसके संस्कार इतने गहरे थे कि भीषण रक्तपात और उथल-पुथल में भी वे अंकुरित होने की प्रतीक्षा में धूल में दबे हुए बीज के समान छिपे रहे कभी नष्ट नहीं हुए।

वास्तव में उस प्राचीन जीवन ने मनुष्य को प्रकृति से तादात्म्य अनुभव कराकर उसके व्यष्टिगत सौन्दर्य पर चेतन व्यक्तित्व के आरोप की उसकी समष्टि में रहस्यानुभूति की सभी सुविधाएं सहज ही दे डालीं। हम वीर पुत्रों और पशुओं की याचना से भरी वेद ऋचाओं में जो इतिवृत्त पाते हैं वही उषा मरुत आदि को चेतन व्यक्तित्व देकर एक सहज और सरल सौन्दर्यानुभूति में बदल गया है। फिर यही व्यष्टिगत सरल सौन्दर्यबोध उस सर्ववाद का अग्रदूत बन जाता है जिसका अंकुर पुरुष-सूक्त में विश्व पर एक विराट शरीरत्व के आरोपण द्वारा प्रकट हुआ है। आगे चलकर इसी के निखरे रूप की झलक

सृष्टि-सम्बन्धी ऋचाओ के गम्भीर प्रश्नो मे मिलती है, जो उपनिषदो के ज्ञान-समुद्र मे मिलकर उसकी लहर मात्र बनकर रह गया। ज्ञानक्षेत्र के 'तत्त्वमसि', 'सर्व खल्विद ब्रह्म', 'सोऽहम्' आदि ने उस युग के चिन्तन को कितनी विविधता दी है, यह कहना व्यर्थ होगा।

तत्वचिंतन के इतने विकास ने एक ओर मनुष्य को व्यावहारिक जगत् के प्रति वीतराग बनाकर निष्क्रियता बढाई और दूसरी ओर अनधिकारियो द्वारा, प्रयोगरूप सिद्धान्तो को सत्य बन जाने दिया, जिससे रूढिवाद की सृष्टि सम्भव हो सकी। इसी की प्रतिक्रिया से उत्पन्न बुद्ध की विचारधारा ने एक ओर ज्ञानक्षेत्र की निष्क्रिय चेतना के स्थान मे, अपनी सक्रिय करुणा दी और दूसरी ओर रूढिवाद को रोकने के लिए पुराने प्रतीक भी अस्वीकृत कर दिये। यह क्रम प्रत्येक युग के परिवर्तन मे नये उलट-फेर के साथ आता रहा है, इसी से आधुनिक काल के साथ भी इसे जानने की आवश्यकता रहेगी।

कविता के जीवन मे भी स्थूल जीवन से सम्बन्ध रखनेवाला इतिवृत्त, सूक्ष्म सौन्दर्य की भावना, उसका चिन्तन मे अत्यधिक प्रसार और अन्त में निर्जीव अनुकृतियाँ आदि क्रम मिलते ही रहे हैं। इसे और स्पष्ट करके देखने के लिए, उस युग के काव्य-साहित्य पर एक दृष्टि डाल लेना पर्याप्त होगा, जिसकी धारा, वीर-गाथा कालीन इतिवृत्त के विषम शिलाखण्डो मे से फूटकर निर्गुण-सगुण भावनाओ की उर्वर भूमि मे प्रशान्त, निर्मल और मधुर होती हुई रीति-कालीन रूढिवाद के क्षार जल मे मिलकर गतिहीन हो गयी। परिवर्तन का वही क्रम हमारे आधुनिक काव्य-साहित्य को भी नई रूप-रेखाओ मे बाँधता चल रहा है या नही, यह कहना अभी सामयिक न होगा।

रीतिकालीन रूढिवाद से थके हुए कवियो ने, जब सामयिक परिस्थितियो से प्रेरित होकर तथा बोलचाल की भाषा मे अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता और प्रचार की सुविधा समझकर, व्रजभाषा का जन्मजात अधिकार खडी बोली को सौंप दिया, तब साधारणत· लोग निराश ही हुए। भाषा लचीलेपन से मुक्त थी और उक्तियो मे चमत्कार न मिलता था। इसके साथ साथ रीतिकाल की प्रतिक्रिया भी कुछ कम वेगवती न थी। अत उस युग की कविता की इति-वृत्तात्मकता इतनी स्पष्ट हो चली कि मनुष्य की सारी कोमल और सूक्ष्म भाव-नाएँ विद्रोह कर उठी। इसमे सन्देह नही कि उस समय की अधिकाश रचनाओ मे भाषा लचीली न होने पर भी परिष्कृत, भाव सूक्ष्मता-रहित होने पर भी सात्विक, छन्द नवीनता-शून्य होने पर भी भावानुरूप और विषय रहस्यमय न रहने पर भी लोकपरिचित और सस्कृत मिलते हैं। पर स्थूल सौन्दर्य की निर्जीव

आवृत्तियों से थके हुए और कविता की परम्परागत नियम शृंखला में ऊब हुए व्यक्तियों को फिर उन्हीं रचनाओं में बँधे स्थूल का न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर हुआ और न उसका इंगित आभास भाया। उन्हें नवीन रचनाओं में सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति की आवश्यकता थी जो छायावाद में पूर्ण हुई।

छायावाद ने नये छन्दबन्धों में सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति का जो रूप रखना चाहा वह खड़ी बोली की सात्त्विक कठोरता नहीं सह सकता था। अतः कवि ने कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तोल और काट छाँटकर तथा कुछ नये गढ़कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमलतम कलेवर दिया। इस युग की प्रायः सब प्रतिनिधि रचनाओं में किसी न किसी अंश तक प्रकृति के सूक्ष्म सौन्दर्य में व्यक्त किसी परोक्ष सत्ता का आभास भी रहता है और प्रकृति के व्यष्टिगत सौन्दर्य पर चेतनता का आरोप भी, परन्तु अभिव्यक्ति की विशेष शैली के कारण, कहीं सौन्दर्यानुभूति की व्यापकता, कहीं संवेदन की गहराई, कहीं कल्पना के सूक्ष्म रंग और कहीं भावना की मर्मस्पर्शिता लेकर अनेक वादों को जन्म दे सकी है।

पिछले छायापथ को पारकर हमारी कविता आज जिस नवीनता की ओर जा रही है उसने अस्पष्टता जैसे परिचित विशेषणों में सूक्ष्म की अभिव्यक्ति, वना निश्च दृष्टिकोण का अभाव, यथार्थ से पलायनवृत्ति आदि नये जोड़कर छायावाद को अतीत और वर्तमान से सम्बन्धहीन एक आकस्मिक आवागचारी अस्तित्व देने का प्रयत्न किया है। इन आक्षेपों की अभी जीवन में परीक्षा नहीं हो सकी है, अतः यह हमारे मानसिक जगत में ही विशेष मूल्य रखते हैं।

कितने दीर्घ काल से वासनोन्मुख स्थूल सौन्दर्य का हमारे ऊपर कैसा अधिकार रहा है, यह कहना व्यर्थ है। युगों से कवि को शरीर के अतिरिक्त और कहीं सौन्दर्य का लेश भी नहीं मिलता था और जो मिलता था वह उसी के प्रसाधन के लिए अस्तित्व रखता था। जीवन के निम्न स्तर से होता हुआ यह स्थूल भक्ति की सात्त्विकता में भी कितना गहरा स्थान बना सका है यह हमारे कृष्णकाव्य का शृंगार-वर्णन प्रमाणित कर देगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि खड़ी बोली का सौन्दर्यहीन इतिवृत्त उसे हिला भी न सकता था। छायावाद यदि अपने सम्पूर्ण प्राण प्रवेग से प्रकृति और जीवन के सूक्ष्म सौन्दर्य को असंख्य रंग रूपों में अपनी भावना द्वारा सजीव करके उपस्थित न करता तो उस धारा का जो प्रगतिवाद की विषम भूमि में भी अपना स्थान बनाती रहती है मोड़ना कब सम्भव होता यह कहना कठिन है। मनुष्य की निम्नवासना को बिना स्पर्श किये हुए जीवन और प्रकृति के सौन्दर्य का उसके

समस्त सजीव वैभव के साथ चित्रित करने वाली उस युग की अनेक कृतियाँ किसी भी साहित्य को सम्मानित कर सकेंगी।

फिर मेरे विचार मे तो सूक्ष्म के सम्बन्ध का कोलाहल सूक्ष्म से भी परिमाण मे अधिक हो गया है। छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया मे उत्पन्न हुआ, अत स्थूल को उसी रूप मे स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हुआ, परन्तु उसकी सौन्दर्य दृष्टि स्थूल के आधार पर नही है, यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण कर देना है। उसने जीवन के इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नही दिये, क्योकि वह स्थूल से उत्पन्न सूक्ष्म सौन्दर्य-सत्ता की प्रतिक्रिया थी, अप्रत्यक्ष सूक्ष्म के प्रति उपेक्षित यथार्थ की नही, जो आज की वस्तु है। परन्तु उसने अपनी क्षितिज से क्षितिज तक विस्तृत सूक्ष्म की सुन्दर और सजीव चित्रशाला मे, हमारी दृष्टि को दौडा दौडाकर ही, उसे विकृत जीवन की यथार्थता तक उतरने का पथ दिखलाया। इसी से छायावाद के सौन्दर्य-द्रष्टा की दृष्टि कुत्सित यथार्थ तक भी पहुँच सकी।

यह यथार्थ-दृष्टि यदि सक्रिय सौन्दर्य-सत्ता के प्रति नितान्त उदासीनता या विरोध लेकर आती है तब उसमे निर्माण के परमाणु नही पनप सकते, इसका सजीव उदाहरण हमे अपनी विकृति के प्रति सजग पर सौन्दर्यदृष्टि के प्रति उदासीन या विरोधी यथार्थदर्शियो के चित्रो की निष्क्रियता मे मिलेगा।

हमारी सामयिक समस्याओ के रूप भी छायायुग की छाया मे निखरे ही। राष्ट्रीयता को लेकर लिखे गये जय-पराजय के गान स्थूल के धरातल पर स्थित सूक्ष्म अनुभूतियो मे जो मार्मिकता ला सके है, वह किसी और युग के राष्ट्रगीत दे सकेंगे या नही, इसमे सन्देह है। सामाजिक आधार पर 'वह दीपशिखा-सी शान्त, भाव मे लीन' मे तप पूत वैधव्य का जो चित्र है, वह अपनी दिव्य लौकिकता मे अकेला है।

सूक्ष्म की सौन्दर्यानुभूति और रहस्यानुभूति पर आश्रित गीत-काव्य अपने लौकिक रूपको मे इतना परिचित और मर्मस्पर्शी हो सका कि उसके प्रवाह मे युगो से प्रचलित सस्ती भावुकतामूलक और वासना के विकृत चित्र देनेवाले गीत सहज ही बह गये। जीवन और कला के क्षेत्र मे इनके द्वारा जो परिष्कार हुआ है, वह उपेक्षा के योग्य नही। पर अन्य युगो के समान इस युग मे भी कुछ निर्जीव अनुकृतियाँ तो रहेगी ही।

जीवन की समष्टि मे सूक्ष्म से इतने भयभीत होने की आवश्यकता नही है, क्योकि वह तो स्थूल से बाहर कही अस्तित्व ही नही रखता। अपने व्यक्त सत्य के साथ मनुष्य जो है और अपने अव्यक्त सत्य के साथ वह जो कुछ होने

की भावना कर सकता है वही उसका स्थूल और सूक्ष्म है और यदि इनका ठीक से तुलन हो सके तो हम एक परिपूर्ण मानव ही मिलेगा। जहाँ तक धर्मगत रूढ़िग्रस्त सूक्ष्म का प्रश्न है वह तो केवल विधिनिषेधमय सिद्धान्तों का संग्रह है जो अपने प्रयोगरूप को खोकर हमारे जीवन के विकास में बाधक हो रहे हैं। उनके आधार पर यदि हम जीवन के सूक्ष्म का अस्वीकार करें तो हम जीवन के ध्वंस में लगे हुए विज्ञान के स्थूल को भी अस्वीकार कर देना चाहिए। अध्यात्म का जैसा विकास पिछले युगों में हो चुका है विज्ञान का वैसा ही विकास आधुनिक युग में हो रहा है—एक जिस प्रकार मनुष्यता को नष्ट कर रहा है, दूसरा उसी प्रकार मनुष्य को। परन्तु हम हृदय से जानते हैं कि अध्यात्म के सूक्ष्म और विज्ञान के स्थूल का समन्वय जीवन को स्वस्थ और सुन्दर बनाने में भी प्रयुक्त हो सकता है।

वह सूक्ष्म जिसके आधार पर एक कुत्सित से कुत्सित कुरूप से कुरूप और दुर्बल से दुर्बल मानव वानर या वनमानुष की पंक्ति में न खड़ा होकर, सृष्टि में सुन्दरतम ही नहीं शक्ति और बुद्धि में श्रेष्ठतम मानव के भी कन्धे से कन्धा मिलाकर उससे प्रेम और सहयोग की साधिकार याचना कर सकता है वह सूक्ष्म जिसके सहारे जीवन की विषम अनेकरूपता में भी एकता का तन्तु ढूँढ़कर हम, उन रूपों में सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं, धर्म का रूढ़िगत सूक्ष्म जीवन न होकर जीवन का सूक्ष्म है। इससे रहित होकर स्थूल अपने भौतिकवाद द्वारा जीवन में वही विकृति उत्पन्न कर देगा जो अध्यात्मपरम्परा ने की थी।

छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य-सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।

सिद्धान्त एक के होकर सबके हो सकते हैं अतः हम उन्हें अपने चिन्तन में ऐसा स्थान सहज ही दे देते हैं जहाँ वे हमारे जीवन से कुछ पृथक ऐकान्तिक विकास पाते रहने को स्वतन्त्र हैं। परन्तु इन सिद्धान्तों से मुक्त जो सत्य है उसकी अनुभूति व्यक्तिगत ही सम्भव है और उस दशा में वह प्रायः हमारे सारे जीवन को अपनी कसौटी बनाने का प्रयत्न करता है। इसी से स्थूल की अतल गहराई का अनुभव करनेवाला देहात्मवादी मार्क्स भी अकेला ही है और अध्यात्म की स्थूलगत व्यापकता की अनुभूति रखनेवाला अध्यात्मवादी गांधी भी।

हमारा कवि भावित और अनुभूत सत्य की परिधि लाँघकर न जाने कितने अद्धपरीक्षित और अपरीक्षित सिद्धान्त बटोर लाया है और उनके मापदण्ड से उस

नापना चाहता है, जिसका मापदण्ड उसका समग्र जीवन ही हो सकता था। अतः आज छायावाद के सूक्ष्म का खरा-खोटापन कसने की कोई कसौटी नही है।

छायावाद का जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण नही रहा, यह निर्विवाद है, परन्तु कवि के लिए यह दृष्टिकोण कितना आवश्यक है, इस प्रश्न के कई उत्तर है।

वास्तव मे जीवन के साथ इस दृष्टिकोण का वही सम्बन्ध है जो शरीर के साथ शल्यशास्त्र और विज्ञान का। एक शरीर के खण्ड-खण्डकर उसके सम्बन्ध में सारा ज्ञातव्य जानकर भी उसके प्रति वीतराग रहता है, दूसरा जीवन को विभक्त कर उसके विविध रूप और मूल्य को जानकर भी हमे उसके प्रति अनुरक्ति नही देता। इस प्रकार यह बुद्धि-प्रसूत चिन्तन मे ही अपना स्थान रखता है। इसीलिए कवि को इससे विपरीत एक रागात्मक दृष्टिकोण का सहारा लेना पडता है, जिसके द्वारा वह जीवन के सुन्दर और कुत्सित को अपनी सवेदना मे रँग कर देता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण जीवन का बौद्धिक मूल्य देता है, चित्र नही, और यदि देता भी है, तो वे एक एक मासपेशी, शिरा, अस्थि आदि दिखाते हुए उस शरीर-चित्र के समान रहते है, जिसका उपयोग केवल शरीर विज्ञान के लिए है। आज का बुद्धिवादी युग चाहता है कि कवि बिना अपनी भावना का रग चढाये यथार्थ का चित्र दे, परन्तु इस यथार्थ का कला मे स्थान नही, क्योकि वह जीवन के किसी भी रूप से हमारा रागात्मक सम्बन्ध नही स्थापित कर सकता। उदाहरण के लिए हम एक महान् और एक साधारण चित्रकार को ले सकते हैं। महान् पहले यह जान लेगा कि किस दृष्टिकोण से एक वस्तु अपनी सहज मार्मिकता के साथ चित्रित की जा सकेगी और तब दो-चार टेढी-मेढी रेखाओ और दो-एक रग के धब्बो से ही दो क्षण मे अपना चित्र समाप्त कर देगा, परन्तु साधारण एक-एक रेखा को उचित स्थान पर बैठा-बैठाकर उस वस्तु को ज्यो-का-त्यो कागज पर उतारने मे सारी शक्ति लगा देगा। यथार्थ का पूरा चित्र तो पिछला ही है, परन्तु वह हमारे हृदय को छू न सकेगा। छू तो वही अधूरा सकता है, जिसमे चित्रकार ने रेखा रेखा न मिलाकर आत्मा मिलाई है।

कवि की रचना भी ऐसे क्षण मे होती है, जिसमे वह जीवित ही नही अपने सम्पूर्ण प्राण-प्रवेग से वस्तु-विशेष के साथ जीवित रहता है, इसी से उसका शब्दगत चित्र अपनी परिचित इकाई मे भी नवीनता के स्तर पर स्तर और एक स्थिति मे भी मार्मिकता के दल पर दल खोलता चलता है। कवि जीवन के

की भावना कर सकता है वही उसका स्थूल और सूक्ष्म है और यदि इनका ठीक से तुलन हो सके तो हमें एक परिपूर्ण मानव ही मिलेगा। जहाँ तक धर्मगत रूढ़िग्रस्त सूक्ष्म का प्रश्न है, वह तो केवल विधिनिषेधमय सिद्धान्तों का संग्रह है जो अपने प्रयोगरूप को खोकर हमारे जीवन के विकास में बाधक हो रहे हैं। उनके आधार पर यदि हम जीवन के सूक्ष्म को अस्वीकार करें तो हम जीवन के ऊपर में लगे हुए विज्ञान के स्थूल को भी अस्वीकार कर देना चाहिए। अध्यात्म का जैसा विकास पिछले युगों में हो चुका है विज्ञान का वैसा ही विकास आधुनिक युग में हो रहा है—एक जिस प्रकार मनुष्यता को नष्ट कर रहा है दूसरा उसी प्रकार मनुष्य को। परन्तु हम हृदय से जानते हैं कि अध्यात्म के सूक्ष्म और विज्ञान के स्थूल का समन्वय जीवन को स्वस्थ और सुन्दर बनाने में भी प्रयुक्त हो सकता है।

वह सूक्ष्म जिसके आधार पर एक कुत्सित से कुत्सित, कुरूप से कुरूप और दुर्बल से दुर्बल मानव वानर या वनमानुष की पंक्ति में न खड़ा होकर, सृष्टि में सुन्दरतम ही नहीं शक्ति और बुद्धि में श्रेष्ठतम मानव के भी कन्धे से कन्धा मिलाकर उससे प्रेम और सहयोग की साधिकार याचना कर सकता है वह सूक्ष्म जिसके सहारे जीवन की विषम अनेकरूपता में भी एकता का तन्तु ढूँढ़कर हम, उन रूपों में सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं, धर्म का रूढ़िगत सूक्ष्म जीवन न होकर जीवन का सूक्ष्म है। इससे रहित होकर स्थूल अपने भौतिकवाद द्वारा जीवन में वही विकृति उत्पन्न कर देगा जो अध्यात्मपरम्परा ने की थी।

छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य-सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।

सिद्धान्त एक के होकर सबके हो सकते हैं अतः हम उन्हें अपने चिन्तन में ऐसा स्थान सहज ही दे देते हैं जहाँ वे हमारे जीवन से कुछ पृथक् ऐकान्तिक विकास पाते रहने को स्वतन्त्र हैं। परन्तु इन सिद्धान्तों से मुक्त जो सत्य है उसकी अनुभूति व्यक्तिगत ही सम्भव है और उस दशा में वह प्रायः हमारे सारे जीवन को अपनी कसौटी बनाने का प्रयत्न करता है। इसी से स्थूल की अतल गहराई का अनुभव करनेवाला द्वन्द्वात्मवादी मार्क्स भी अकेला ही है और अध्यात्म की स्थूलगत व्यापकता की अनुभूति रखनेवाला अध्यात्मवादी गांधी भी।

हमारा कवि भावित और अनुभूत सत्य की परिधि लाँघकर न जाने कितने अद्धपरीक्षित और अपरीक्षित सिद्धान्त बटोर लाया है और उनके मापदण्ड से उस

नापना चाहता है, जिसका मापदण्ड उसका समग्र जीवन ही हो सकता था। अतः आज छायावाद के सूक्ष्म का खरा-खोटापन कसने की कोई कसौटी नही है।

छायावाद का जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण नही रहा, यह निर्विवाद है, परन्तु कवि के लिए यह दृष्टिकोण कितना आवश्यक है, इस प्रश्न के कई उत्तर हैं।

वास्तव मे जीवन के साथ इस दृष्टिकोण का वही सम्बन्ध है जो शरीर के साथ शल्यशास्त्र और विज्ञान का। एक शरीर के खण्ड-खण्डकर उसके सम्बन्ध में सारा ज्ञातव्य जानकर भी उसके प्रति वीतराग रहता है, दूसरा जीवन को विभक्त कर उसके विविध रूप और मूल्य को जानकर भी हमे उसके प्रति अनुरक्ति नही देता। इस प्रकार यह बुद्धि-प्रसूत चिन्तन मे ही अपना स्थान रखता है। इसीलिए कवि को इससे विपरीत एक रागात्मक दृष्टिकोण का सहारा लेना पडता है, जिसके द्वारा वह जीवन के सुन्दर और कुत्सित को अपनी सवेदना मे रँग कर देता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण जीवन का बौद्धिक मूल्य देता है, चित्र नही; और यदि देता भी है, तो वे एक एक मासपेशी, शिरा, अस्थि आदि दिखाते हुए उस शरीर-चित्र के समान रहते है, जिसका उपयोग केवल शरीर विज्ञान के लिए है। आज का बुद्धिवादी युग चाहता है कि कवि बिना अपनी भावना का रग चढाये यथार्थ का चित्र दे; परन्तु इस यथार्थ का कला मे स्थान नही, क्योकि वह जीवन के किसी भी रूप से हमारा रागात्मक सम्बन्ध नही स्थापित कर सकता। उदाहरण के लिए हम एक महान् और एक साधारण चित्रकार को ले सकते हैं। महान् पहले यह जान लेगा कि किस दृष्टिकोण से एक वस्तु अपनी सहज मार्मिकता के साथ चित्रित की जा सकेगी और तब दो-चार टेढी-मेढी रेखाओ और दो-एक रग के धब्बो से ही दो क्षण मे अपना चित्र समाप्त कर देगा, परन्तु साधारण एक-एक रेखा को उचित स्थान पर बैठा-बैठाकर उस वस्तु को ज्यो-का-त्यो कागज पर उतारने मे सारी शक्ति लगा देगा। यथार्थ का पूरा चित्र तो पिछला ही है, परन्तु वह हमारे हृदय को छू न सकेगा। छू तो वही अधूरा सकता है, जिसमे चित्रकार ने रेखा रेखा न मिलाकर आत्मा मिलाई है।

कवि की रचना भी ऐसे क्षण मे होती है, जिसमे वह जीवित ही नही अपने सम्पूर्ण प्राण-प्रवेग से वस्तु-विशेष के साथ जीवित रहता है, इसी से उसका शब्दगत चित्र अपनी परिचित इकाई मे भी नवीनता के स्तर पर स्तर और एक स्थिति मे भी मार्मिकता के दल पर दल खोलता चलता है। कवि जीवन के

निम्नस्तर से भी काव्य के उपादान ला सकता है परन्तु वे उसी के होकर गहन अभिव्यक्ति करेंगे और उसके रागात्मक दृष्टिकोण में ही सजीवता पा सकेंगे।

यह रंगीन दृष्टिकोण वास्तव में कुछ अस्वाभाविक भी नहीं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति और जाति के जीवन में यह कभी न कभी समय आता ही रहता है। विशेष रूप से यह उस तारुण्य का द्योतक है जो चाँदनी के समान हमारे जीवन की कठोरता, रुक्षता, विषमता आदि को एक स्निग्धता से ढँक देता है। जब हम पहले-पहल जीवन-संग्राम में प्रवेश होते हैं तब अपनी दृष्टि की रंगमयता से ही पथ के कुरूप पत्थरों को रंगीन और साँसों की सुरभि में ही काँटों को सुवासित करते चलते हैं। परन्तु जब ज्यों संघर्ष में हमारे स्वप्न टूटते जाते हैं कल्पना के पंख झड़ते जाते हैं वैसे-वैसे हमारे दृष्टिकोण की रंगीनी फीकी पड़ती जाती है और अन्त में परिचित वेदना के साथ इसके भी रंग घुल जाते हैं। यह उस वार्धक्य का सूचक है जिसमें हम जीवन से न कुछ पाने की आशा रखते हैं और न देने का उत्साह। केवल जो कुछ पाया और दिया है उसी का हिसाब बुद्धि करती रहती है।

जीवन या राष्ट्र के किसी भी महान् स्वप्नद्रष्टा, नवनिर्माता या कलाकार में यह वार्धक्य सम्भव नहीं, इसी से आज न रवीन्द्र वृद्ध हैं न बापू। इनमें जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव नहीं किन्तु वह एक सृजनात्मक भावना से अनुशासित रहता है। विश्लेषणात्मक तथा प्रधानतः बौद्धिक होने के कारण वैज्ञानिक दृष्टिकोण एक ओर जीवन के अखण्ड रूप की भावना नहीं कर सकता और दूसरी ओर चिन्तन में ऐकान्तिक होता चला जाता है। उदाहरण के लिए हम अपनी राष्ट्र या जनवाद की भावना ले सकते हैं जो हमारे युग की विशेष देन है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हम अपने देश के प्रत्येक भूखण्ड के सम्बन्ध में सब ज्ञातव्य जानकर मनुष्य के साथ उसका बौद्धिक मूल्य आँक सकेंगे और वर्ग उपवर्गों में विभक्त मानव-जीवन के सब रूपों का विश्लेषणात्मक परिचय प्राप्त कर, उसके सम्बन्ध में बौद्धिक निरूपण दे सकेंगे, परन्तु खण्ड खण्ड में व्याप्त एक विशाल राष्ट्रभावना और व्यष्टि समष्टि में व्याप्त एक विराट जनभावना हम इस दृष्टिकोण से ही नहीं मिल सकती। केवल भारतवर्ष के मानचित्र बाँटकर जिस प्रकार राष्ट्रीय भावना जागृत करना सम्भव नहीं है केवल शतरंज के मोहरों के समान व्यक्तियों को हटा बढ़ाकर जन जन भावना का विकास कठिन है केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जीवन की गहराई और विस्तार नाप लेना भी ऐसा ही दुस्तर कार्य है। इसी से प्रत्येक युग के निर्माता को यथार्थद्रष्टा ही नहीं स्वप्नस्रष्टा भी होना पड़ता है।

छायावाद के कवि को एक नये सौन्दर्य-लोक मे ही यह भावात्मक दृष्टि-कोण मिला, जीवन मे नही; परन्तु यदि इसी कारण हम उसके स्थान मे केवल बौद्धिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा कर जीवन को पूर्णता मे देखना चाहेगे, तो हम भी असफल ही रहेगे।

पलायनवृत्ति के सम्बन्ध मे हमारी यह धारणा बन गयी है कि वह जीवन-सग्राम मे असमर्थ छायावाद की अपनी विशेषता है। सत्य तो यह है कि युगो से, परिचित से अपरिचित, भौतिक से अध्यात्म, भाव से बुद्धिपक्ष, यथार्थ से आदर्श आदि की ओर मनुष्य को ले जाने और इसी क्रम से लौटाने का बहुत कुछ श्रेय इसी पलायनवृत्ति को दिया जा सकता है। यथार्थ का सामना न कर सकनेवाली दुर्बलता ही इसे जन्म देती है, यह कथन कितना अपरीक्षित है, इसका सबल प्रमाण हमारा चिन्तन-प्रधान ज्ञान-युग दे सकेगा। उस समय न जाति किसी कठोर सघर्ष से निश्चेष्ट थी न किसी सर्वग्रासिनी हार से निर्जीव, न उसका घर धन-धान्य से शून्य था और न जीवन सुख-सन्तोष से, न उसके सामने सामाजिक विकृति थी और न सास्कृतिक ध्वस। परन्तु इन सुविधाओ से अति परिचय के कारण उसका तारुण्य, भौतिक को भूलकर चिन्तन के नवीन लोक मे भटक गया और उपनिषदो मे उसने अपने ज्ञान का ऐसा सूक्ष्म विस्तार किया कि उसके बुद्धिजीवी जीवन को फिर से स्थूल की ओर लौटना पडा।

व्यक्ति के जीवन मे भी यह पलायनवृत्ति इतनी ही स्पष्ट है। सिद्धार्थ ने जीवन के सघर्षो मे पराजित होने के कारण महाप्रस्थान नही किया, भौतिक सुखो के अति परिचय ने ही थकाकर उनकी जीवनधारा को दूसरी ओर मोड दिया था। आज भी व्यावहारिक जीवन मे, पढने से जी चुरानेवाले विद्यार्थी को, जब हम खिलौनो से घेरकर छोड देते है, तब कुछ दिनो के उपरान्त वह स्वय पुस्तको के लिए विकल हो जाता है।

जीवन के और साधारण स्तर पर भी हमारी इस धारणा का समर्थन हो सकेगा। चिडियो से खेत की रक्षा करने के लिए मचान पर बैठा हुआ कृषक, जब अचानक खेत और चिडियो को भूलकर बिरहा या चैती गा उठता है, तब उसमे खेत-खलिहान की कथा न कहकर अपनी किसी मिलन-विरह की स्मृति ही दोहराता है। चक्की के कठिन पाषण को अपनी साँसो से कोमल बनाने का निष्फल प्रयत्न करती हुई दरिद्र स्त्री, जब इस प्रयास को रागमय करती है, तो उसमे चक्की और अन्न की बात न होकर, किसी आम्रवन मे पडे झूले की मार्मिक कहानी रहती है। इसे चाहे हम यथार्थ की पूर्ति कहे, चाहे उससे पलायन की वृत्ति, वह परिभाषातीत मन की एक आवश्यक प्रेरणा तो है ही।

छायावाद के जन्मकाल में मध्यम वर्ग में ऐसी अशान्ति नहीं थी। आर्थिक प्रश्न इतना उग्र नहीं था, सामाजिक विषमताओं के प्रति हम सम्पूर्ण क्षोभ के साथ आज के समान जाग्रत नहीं हुए थे और हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर अमंगल का इतना स्याह रंग भी नहीं पड़ा था। तब हम कैसे कह सकते हैं कि केवल संघर्षमय यथार्थ जीवन से पलायन के लिए ही उस युग के कवियों ने एक सूक्ष्म भावजगत् को अपनाया। हम केवल इतना कह सकते हैं कि उन परिस्थितियों ने आज की निराशा के लिए धरातल बनाया।

उस युग के कतिपय कवियों की कोमल भावनाएँ तो कारागार की कठोर भित्तियों से टकराकर भी चकना नहीं हो सकीं, परन्तु इसी कोमलता के आधार पर हम उन कवियों का जीवन-संघर्ष में अगमय नहीं ठहरा सकेंगे।

छायावाद के आरम्भ में जो विकृति थी आज वह शतगुण हो गयी है। उस समय की अशान्ति की चिनगारी आज सहस्र-सहस्र लपटों में फैलकर हमारे जीवन को क्षार किये दे रही है। परन्तु आज भी तो हम अपने शान्त चिन्तन में बुद्धि से तराश-तराशकर सिद्धान्तों के मणि ही बना रहे हैं। हमारे सिद्धान्तों की चरणपीठ बनकर ही जो यथार्थ आ सका है उस भी हमारे हृदय के बन्द द्वार से टकरा टकराकर ही लौटना पड़ रहा है। वास्तव में हमने जीवन को उसके सक्रिय संवेदन के साथ न स्वीकार करके एक विशेष बौद्धिक दृष्टिकोण से छू भर दिया है। इसी से जैसे यथार्थ से साक्षात करने में असमर्थ छायावाद का भावपक्ष में पलायन सम्भव है उसी प्रकार यथार्थ की सक्रियता स्वीकार करने में असमर्थ प्रगतिवाद का चिन्तन में पलायन सहज है। और यदि विचारकर देखा जाय तो जीवन से केवल भावजगत् में पलायन उतना हानिकर नहीं, जितना जीवन से केवल बुद्धिपक्ष में पलायन क्योंकि एक हमारे कुछ क्षणों को गतिशील कर जाता है और दूसरा हमारा सम्पूर्ण सक्रिय जीवन माँग लेता है।

यदि इन सब उलझनों को पारकर हम पिछले और आज के काव्य की, एक विस्तृत धरातल पर उदार दृष्टिकोण से परीक्षा करें तो हम दोनों में जीवन के निर्माण और प्रसाधन के सूक्ष्म तत्व मिल सकेंगे। जिस युग में कवि के एक ओर परिचित और उत्तेजक स्थूल था और दूसरी ओर आदर्श और उपदेश प्रधान इतिवृत्त, उसी युग में उसने भावजगत और सूक्ष्म सौन्दर्य सत्ता की खोज की थी। आज वह भावजगत् के कोने कोने और सूक्ष्म सौन्दर्यगत चेतना के अणु अणु से परिचित हो चुका है, अतः स्थूल व्यक्त उसकी दृष्टि को विराम देगा। यदि हम पहले मिली सौन्दर्य दृष्टि और आज की यथार्थ-सृष्टि का समन्वय कर सकें, पिछली सक्रिय भावना से बुद्धिवाद की शुष्कता को स्निग्ध बना सकें और पिछली

सूक्ष्म चेतना की, व्यापक मानवता मे प्राण-प्रतिष्ठा कर सके, तो जीवन का सामंजस्यपूर्ण चित्र दे सकेगे। परन्तु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के समान कविता का भविष्य भी अभी अनिश्चित ही है। पिछले युग की कविता अपनी ऐश्वर्य-राशि मे निश्चल है और आज की, प्रतिक्रियात्मक विरोध मे गतिवती। समय का प्रवाह जब इस प्रतिक्रिया को स्निग्ध और विरोध को कोमल बना देगा, तब हम इनका उचित समन्वय कर सकेगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस विश्वास के लिए पर्याप्त करण है। छायावाद आज के यथार्थ से दूर जान पड़ने पर भी भारतीय काव्य की मूल प्रेरणाओ के निकट है। उसके प्रतिनिधि कवि, भारतीय सस्कृति, दर्शन तथा प्राचीन साहित्य से विशेष परिचित रहे। पश्चिमीय और बँगला काव्य-साहित्य से उनका परिचय हुआ अवश्य, परन्तु उसका अनुकरण मात्र काव्य को इतनी समृद्धि नही दे 'सकता था। विशेषत: बँगला से उन्हे जो मिला, वह तत्त्वत. भारतीय ही था, क्योकि कवीन्द्र स्वय भारतीय सस्कृति के सबसे समर्थ प्रहरी हैं। उन्होने अपने देश की अध्यात्म-सुधा से पश्चिम का मृत्तिका-पात्र भर दिया, इसी से भारतीय कवियो ने उसके दान को अपना ही मानकर ग्रहण किया और पश्चिम ने कृतज्ञता के साथ।

प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप, कल्पनाओ की समृद्धि, स्वानुभूत सुख-दु खों की अभिव्यक्ति, इस काव्य की ऐसी विशेषताएँ है, जो परस्पर सापेक्ष रहेगी।

जहाँ तक भारतीय प्रकृतिवाद का सम्बन्ध है, वह दर्शन के सर्ववाद का काव्य मे भावगत अनुवाद कहा जा सकता है। यहाँ प्रकृति दिव्य शक्तियो का प्रतीक भी बनी, उसे जीवन सगिनी बनने का अधिकार भी मिला, उसने अपने सौन्दर्य और शक्ति द्वारा अखण्ड और व्यापक परम तत्त्व का परिचय भी दिया और वह मानव के रूप का प्रतिबिम्ब और भाव का उद्दीपन बनकर भी रही।

वेदकालीन मनीषी उसे अजर सौन्दर्य और अजस्र शक्ति का ऐसा प्रतीक मानता है, जिसके बिना जीवन की स्वस्थ गति सम्भव नही। वह मेघ को प्राकृतिक परिणाम नही, चेतन व्यक्तित्व के साथ देखता है।

वातत्विषो मरुतो वर्षनिर्णिजो यमा इव सुहशः सुपेशसः।
पिशङ्गाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः प्रत्वक्षसो महिना द्यौरिवः॥

ऋ० ५-५७-४

× ×

सुजातासो जनुषा रुक्मवक्षसो दिवो अर्का अमृत नाम भेजिरे।

ऋ० ५-५७-५

(विद्युत प्राण (ताडण शक्ति) से उद्भासित, जल धारा के परिधान से वेष्टित यह मरुत एक से सुन्दर और शोभन हैं। अग्ग्ण-गीत अरवावाने इन वीरों ने विस्तृत अन्तरिक्ष छा लिया है।

कल्याणाय उत्तान ज्योतिमय व स्वाल इन आकाश के गायकों की ख्याति अमर है।)

इस चित्रगीता ने मेघदूत के मेघ से लेकर आज तक के मेघ-गीतों को कितना रूपरेखा दी है यह अनुमान कठिन नहीं।

बादल गरजो!
घर-घेर घोर गगन धाराधर ओ!
ललित ललित काले घुंघराले,
बाल कल्पना के से पाले
विद्युत छवि उर में कवि नव जीवन वाले!
वज्र छिपा नूतन कविता फिर भर दो!—निराला

इस गीत की रूप रेखा ही नहीं इसका स्पन्दन भी ऐसी सनातन प्रवृत्ति से सम्बद्ध है जो नये-नये रूपों में भी तरवत् एक रह सकी। इसी प्रकार—

भद्रासि रात्रि चमसो नविष्टो विश्व गोरुप युवतिर्बिभर्षि।
चक्षुष्मति मे उशती वपूंषि प्रति त्वं दिव्यानक्षत्राण्यमुक्था॥
अथर्व० १९ १९ ८

(हे विश्रामदायिनी कल्याणि! तू पूर्ण पात्र के समान (शान्ति से भरी हुई) है नवीन है, सब ओर व्याप्त होकर पृथ्वीरूप हो गयी है। सब पर दृष्टि रखनेवाली स्नेहशीले रात्रि! तूने आकाश के उज्ज्वल नक्षत्रों से अपना श्रृंगार किया है।)

उपर्युक्त गीत में रात्रि का जो चित्र है वह तब से आज तक कवियों को मुग्ध करता आया है।

खडी बोली का वैतालिक प्रकृति की रूपरेखा को प्रधानता देता है—

अत्युज्ज्वला पहन तारक मुक्त माला
दिव्याम्बरा बन अलौकिक कौमुदी से,
भावों भरी परम मुग्धकरी हुई थी
राका-कलाकार मुखी रजनीपुरन्ध्री!—हरिऔध

छायावाद का कवि रेखाओ से अधिक महत्व स्पन्दन को दे देता है—

और उसमें हो चला जैसे सहज सविलास
मदिर माधव यामिनी का धीर पद-विन्यास।
कालिमा धुलने लगी घुलने लगा आलोक,
इसी निभृत अनन्त में बसने लगा अब लोक;
राशि राशि नखत-कुसुम की अर्चना अश्रान्त,
विखरती है, तामरस-सुन्दर चरण के प्रान्त।
मनु निरखते लगे ज्यो-ज्यों यामिनी का रूप,
वह अनन्त प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप!—प्रसाद

तिमिराञ्चल मे चञ्चलता का नहीं कहीं आभास
मधुर मधुर है उसके दोनो अधर
किन्तु जरा गम्भीर—नहीं है उसमें हास-विलास!
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले काले बालों से।—निराला

प्रसादजी अपनी सुनहली तूलिका से इडा का चित्र खीचते है—

बिखरीं अलकें ज्यो तर्क-जाल!
था एक हाथ मे कर्मकलश वसुधा का जीवन-सार लिये,
दूसरा विचारो के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये,
त्रिवली थी त्रिगुण तरगमयी आलोक-वसन लिपटा अराल,

यह रूप-दर्शन हमें ऋग्वेद की उषा के सामने खडा कर देता है—

एषा दिवदुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती शुक्रवासा।
विश्वस्येशाना.................................॥

(वह आकाश की पुत्री अपने उज्ज्वल आलोक-परिधान से वेष्टित किरणो से उद्भासित नवीन और विश्व की समस्त निधियो की स्वामिनी है।)

अरुण शिशु के मुख पर सविलास
सुनहली लट घुँघराली कान्त।
×
आलोक-रश्मि से बुने उषा-अञ्चल में आन्दोलन अमन्द—प्रसाद

आदि पंक्तियों में जो कल्पना मिलती है वह कुछ परिवर्तित रूप में ऋग्वेद के निम्न गीतों में भी स्थिति रखती है—

हिरण्यकेशा रजसो विसारेऽहि धुनिर्वातरध्रजीमान्।
शुचिभ्राजा उषसो नवेदा ॥

(सुनहली अलकोंवाला वह अंधकार दूर कर दिशाओं में फैल जाता है, अहि के समान (लहरोंवाला) वात सा गतिशील और सबके कम्पन का कारण वह आलोकशोभी उषा का नाता है।)

आ द्या तनोषि रश्मिभिरान्तरिक्षमुरुप्रियम्।
उष शुक्रेण शोचिषा॥

(हे दीप्तिमति ! तूने इस विस्तृत और प्रिय अंतरिक्ष को आलोक और किरणों से बुन लिया है।)

कामायनी में श्रद्धा के मुख के लिए कवि ने लिखा है—

खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।

इससे हजारों वर्ष पहले अथर्व का कवि लिख चुका है—

सिन्धोर्गर्भोसि विद्युतां पुष्पम्।

(तू समुद्रों का सार है तू बिजलियों का फूल है)।

उदयाचल से बाल हंस फिर,
उड़ता अम्बर में अवदात।—पंत

आदि पंक्तियों में हंस के रूपक से सूर्य का जो चित्र अंकित किया गया है वह भी अथर्व के निम्न चित्र से विशेष साम्य रखता है।

सहस्राह्णय वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।

(आकाश में उड़ता हुआ यह उज्ज्वल हंस (सूर्य) अपनी सहस्रों वर्ष दीर्घ यात्रा तक पंख फैलाए रहता है।)

तस्या रूपेणेमे वना हरितस्रज।—अथर्व

(उसके रूप से ही ये वृक्ष हरी पत्रमालाएँ पहने खडे है) का भाव ही इन पक्तियो मे पुनर्जन्म पा गया है—

तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिचे हुए ?—प्रसाद

आधुनिक कवियो के लिए आज की परिस्थितियो मे प्राचीन मनीषियो का अनुकरण करना सम्भव नही था, पर उनकी दृष्टि की भारतीयता से ही उनकी रचनाओ मे वे रग आ गये, जो इस देश के काव्य-पट पर विशेप खिल सकते थे।

विश्व के रहस्य से सम्बन्ध रखनेवाली जिज्ञासा जब केवल बुद्धि के सहारे गतिशील होती है, तब वह दर्शन की सूक्ष्म एकता को जन्म देती है और जब हृदय का आश्रय लेकर विकास करती है, तब प्रकृति और जीवन की एकता विविध प्रश्नो मे व्यक्त होती है।

अथर्व का कवि प्रकृति और जीवन की गतिशीलता को विविध प्रश्नो का रूप देता है—

कथं वातं नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्य प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन॥

(यह समीर क्यो नही चैन पाता ? मन भी क्यो नही एक हो वस्तु में रमता ? (दोनो क्यो चचल है ?) कौन से सत्य तक पहुँचने के लिए (जीवन के समान) जल भी निरन्तर प्रवाहित है ?)

ऐसी जिज्ञासा ने हमारे काव्य को भी एक रहस्यमय सौन्दर्य दिया है—

किसके अन्तःकरण-अजिर मे
अखिल व्योम का लेकर मोती,
आँसू का बादल बन जाता
फिर तुषार की वर्षा होती ?—प्रसाद

अलि ! किस स्वप्नो की भाषा में
इगित करते तरु के पात ?
कहाँ प्रात को छिपती प्रतिदिन
वह तारक-स्वप्नो की रात ?—पन्त

सस्कृत काव्यो म प्रकृति दिव्यता के सिंहासन स उतरकर मनुष्य के पग स पग मिलाकर चलन लगती है अत हम मानव आकार के समान ही उसकी यथाथ रूपरेखा देखते है और हृदय के साथ गूढ स्पन्दन सुनते हैं।

वाल्मीकि के वनवासी राम कहते हैं—

> ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते।
> सीतेव आतपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते॥

(तुषार स मलिन उजियाली रात पूर्णिमा होन पर भी शोभन नहा लगती। *आतप से कान्तिहीन अगोवाली सीता के समान प्रत्यक्ष तो है, पर शोभित नही* होती।)

पाल से धुँधली हेमन्तिनी राका को धूप स कुम्हलाई हुई सीता के पाश्व *म खडा करके वे दोनो का एक ही परिचय दे डालते हैं।*

करुणा और प्रकृति के ममन भवभूति और प्रेम तथा प्रकृति के विशेपन कालीदास ने प्रकृति को उसकी यथाथ रेखाओ मे भी अकित किया है और जीवन के हर स्वर से स्वर मिलानेवाली सगिनी के रूप मे भी। सस्कृत काव्यो म चेतन ही नहीं जड भी मानव-सुख दुख से प्रभावित होते हैं।

दु खिनी सीता के साथ—

> एते रुदन्ति हरिणा हरित विमुच्य
> हसाश्च शोकविधुरा करुण रुदन्ति

हरित तृण छोडकर मृग रोते हैं शोक विधुर हस करुण क्रन्दन करते हैं। इतना ही नहीं मनुष्य के दुख से अपि ग्रावा रोदित्यपि दलित वज्रस्य हृदयम' पापाण भी आँसुओ मे पिघल उठते हैं वज्र का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है।

इसी प्रकार विधुर अज के विलाप स

'अकरोत पथ्वीरुहानपि स्रुत शाखा रसन्वाष्पदूषितान्' —वक्ष अपनी शाखाओ के रस रूपी अश्रु बिन्दुओ से भीले हो जाते हैं।

हिन्दी काव्य म भी इस प्रवत्ति ने विभिन्न रूप पाये हैं। निगुण के उपासको ने प्रकृति म रहस्यमय अव्यक्त क सौन्दय और शक्ति को प्रत्यक्ष पाया, सगुण भक्तो न, उमे अपन व्यक्त इष्ट की रहस्यमयी महिमा और सुषमा की सजीव

नगिनी बनाया और रीति के अनुयायियो ने, उसे प्रसाधन मात्र बनाने के प्रयास मे भी ऐसा रूप दे डाला, जिसके बिना उनके नायक-नायिकाओ के शरीर-सौन्दर्य और भावो का कोई नाम-रूप ही असम्भव हो गया।

खडी बोली के कवियो ने अपने काव्य मे जीवन और प्रकृति को, वैसे ही सजीव, स्वतन्त्र, पर जीवन की सनातन सहगामिनी के रूप मे अकित किया है, जैसा सस्कृत काव्य के पूर्वार्द्ध मे मिलता है। प्रियप्रवास की तपस्विनी राधा का पवन-दूत, साकेत की वनवासिनी सीता को घेरनेवाले मृग-विहग-लता-वृक्ष, सबके चित्रण मे स्पष्ट सरल रेखाएँ और सूक्ष्म स्पन्दन मिलेगा। प्रकृति को सगिनी के रूप मे ग्रहण करने की प्रवृत्ति इतनी भारतीय है कि वह उत्कृष्ट काव्यो से लेकर लोकगीतो तक व्याप्त हो चुकी है। ऐसा कोई लोकगीत नही, जिसमे मनुष्य अपने सुख-दुख की कथा कोयल-पपीहा, सूर्य-चन्द्र, गगा-यमुना, आम-नीम आदि को न सुनाता हो और अपने जीवन के प्रश्न सुलझाने के लिए प्रकृति से सहायता न चाहता हो।

छायावाद मे यह सर्ववाद अधिक सूक्ष्म रूप पा गया है, जिसमे जड तत्त्व से चेतन की अभिन्नता, सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को जन्म देती है और व्यष्टिगत चेतना से व्यापक चेतना की एकता, भावात्मक दर्शन सहज कर देती है। इसी से कवि रूप-दर्शन को एक विराट पीठिका पर प्रतिष्ठित कर उसे महत्ता देता है और व्यक्तिगत सुख-दुखो को जीवन के अनन्त क्रम के साथ रखकर उन्हे विस्तार देता है। प्रकृति के रूप-दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए, उसने वही प्राचीनतम पद्धति स्वीकार की है, जो एक रूप-खण्ड को दिव्य, अखण्ड और स्पन्दित मूर्त्तिमत्ता दे सकी और स्वानुभूत सुख-दु खो को सामान्य बनाने के लिए उसने प्रकृति से ऐसा तादात्म्य किया, जिससे उसका एक-एक स्पन्दन प्रकृति मे अनेक प्रतिध्वनियाँ जगाने लगा। कही प्रकृति उसके अरूप भावो की परिभाषा ही नही, चित्र भी बन जाती है—

> **इन्दु-विचुम्बित बाल-जलद-सा**
> **मेरी आशा का अभिनय।—पन्त**

और कही वह अपनी तन्मयता मे यह भूल जाता है कि प्रकृति के रूपो से मिलते-जुलते भावो के दूसरे नाम है, अतः एक की सज्ञा दूसरे के रूप को सहज ही मिल जाती है—

> **झझा झकोर गर्जन है बिजली है नीरद-माला;**
> **पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला।—प्रसाद**

संस्कृत काव्यों में प्रकृति स्थिरता के सिंहासन से उतरकर मनुष्य के पग से पग मिलाकर चलने लगती है, अतः हम मानव आकार के समान ही उसकी यथार्थ रूपरेखा देखते हैं और हृदय में साथ गूढ़ स्पन्दन सुनते हैं।

वाल्मीकि के वनवासी राम कहते हैं—

ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते॥

(तुषार से मलिन उजियाली रात पूर्णिमा होने पर भी शोभन नहीं लगती। आतप से कान्तिहीन अंगोंवाली सीता के समान प्रत्यक्ष तो है पर शोभित नहीं होती।)

पाले से धुँधली हेमन्तिनी राका को, धूप में कुम्हलाई हुई सीता के पार्श्व में खड़ा करके, वे दोनों का एक ही परिचय दे डालते हैं।

करुणा और प्रकृति के मर्मज्ञ भवभूति और प्रेम तथा प्रकृति के विशेषज्ञ कालीदास ने प्रकृति को उसकी यथार्थ रेखाओं में भी अंकित किया है और जीवन के हर स्वर से स्वर मिलानेवाली सगिनी के रूप में भी। संस्कृत काव्यों में चेतन ही नहीं जड़ भी मानव-सुख दुःख से प्रभावित होते हैं।

दुःखिनी सीता के साथ—

एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य
हंसाश्च शोकविधुराः करुणं रुदन्ति

हरित तृण छोड़कर मृग रोते हैं, शोक विधुर हंस करुण क्रन्दन करते हैं। इतना ही नहीं, मनुष्य के दुःख से 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्' पाषाण भी आँसुओं में पिघल उठते हैं, वज्र का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है।

इसी प्रकार विधुर अज के विलाप से

'अकरोत पृथ्वीरुहानपि स्रुत शाखा रस-बाष्पदूषितान्'—वृक्ष अपनी शाखाओं के रस रूपी अश्रु बिन्दुओं से गीले हो जाते हैं।

हिन्दी काव्य में भी इस प्रवृत्ति ने विभिन्न रूप पाये हैं। निर्गुण के उपासकों ने प्रकृति में रहस्यमय अव्यक्त के सौन्दर्य और शक्ति को प्रत्यक्ष पाया, सगुण भक्तों ने, उसे अपने व्यक्त इष्ट की रहस्यमयी महिमा और सुषमा की सजीव

नगिनी वनाया और रीति के अनुयायियो ने, उसे प्रसाधन मात्र वनाने के प्रयास मे भी ऐसा रूप दे डाला, जिसके विना उनके नायक-नायिकाओ के शरीर-सौन्दर्य और भावो का कोई नाम-रूप ही असम्भव हो गया।

खडी वोली के कवियो ने अपने काव्य मे जीवन और प्रकृति को, वैसे ही सजीव, स्वतन्त्र, पर जीवन की सनातन सहगामिनी के रूप मे अकित किया है, जैसा सस्कृत काव्य के पूर्वार्द्ध मे मिलता है। प्रियप्रवास की तपस्विनी राधा का पवन-दूत, साकेत की वनवासिनी सीता को घेरनेवाले मृग-विहग-लता-वृक्ष, सवके चित्रण मे स्पष्ट सरल रेखाएँ और सूक्ष्म स्पन्दन मिलेगा। प्रकृति को संगिनी के रूप मे ग्रहण करने की प्रवृत्ति इतनी भारतीय है कि वह उत्कृष्ट काव्यो से लेकर लोकगीतो तक व्याप्त हो चुकी है। ऐसा कोई लोकगीत नही, जिसमे मनुष्य अपने सुख-दुख की कथा कोयल-पपीहा, सूर्य-चन्द्र, गगा-यमुना, आम-नीम आदि को न सुनाता हो और अपने जीवन के प्रश्न सुलझाने के लिए प्रकृति से सहायता न चाहता हो।

छायावाद मे यह सर्ववाद अधिक सूक्ष्म रूप पा गया है, जिसमे जड तत्त्व से चेतन की अभिन्नता, सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को जन्म देती है और व्यष्टिगत चेतना से व्यापक चेतना की एकता, भावात्मक दर्शन सहज कर देती है। इसी से कवि रूप-दर्शन को एक विराट पीठिका पर प्रतिष्ठित कर उसे महत्ता देता है और व्यक्तिगत सुख-दुखो को जीवन के अनन्त क्रम के साथ रखकर उन्हे विस्तार देता है। प्रकृति के रूप-दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए, उसने वही प्राचीनतम पद्धति स्वीकार की है, जो एक रूप-खण्ड को दिव्य, अखण्ड और स्पन्दित मूर्त्तिमत्ता दे सकी और स्वानुभूत सुख-दु खो को सामान्य वनाने के लिए उसने प्रकृति से ऐसा तादात्म्य किया, जिससे उसका एक-एक स्पन्दन प्रकृति मे अनेक प्रतिध्वनियाँ जगाने लगा। कही प्रकृति उसके अरूप भावो की परिभाषा ही नही, चित्र भी वन जाती है—

> इन्दु-विचुम्वित वाल-जलद-सा
> मेरी आशा का अभिनय।—पन्त

और कही वह अपनी तन्मयता मे यह भूल जाता है कि प्रकृति के रूपो से मिलते-जुलते भावो के दूसरे नाम है, अत. एक की सज्ञा दूसरे के रूप को सहज ही मिल जाती है—

> झझा झकोर गर्जन है बिजली है नीरद-माला;
> पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला!—प्रसाद

सववाद के निकट कोई वस्तु अपने आप म न बडी है न छोटी, न लघु है न गुरु। जैसे अगो की अनुभूति के साथ शरीर की अखण्डता का बोध रहता है और शरीर की अनुभूति के साथ अगो की विभिन्नता का ज्ञान वैसे ही सर्ववाद म विविधता स्वत पूर्ण रूप और सापेक्ष स्थिति रखती है। अत छायावाद का कवि न प्रकृति के किसी रूप को लघु या निरपेक्ष मानता है न अपने जीवन का क्योंकि ये दोनो ही एक विराट रूप-समष्टि म स्थिति रखते हैं और एक व्यापक जीवन से स्पन्दन पाते हैं। जीवन के रूप श्रगार के लिए प्रकृति अपना अक्षय सौन्दर्य कोष खोल देती है और प्रकृति के प्राण परिचय के लिए जीवन अपना रगमय भावाकाश दे डालता है।

-

एक था आकाश वर्षा का सजल उद्दाम
दूसरा रञ्जित किरण से श्री कलित घनश्याम;
चल रहा था विजन पथ पर मधुर जीवन खेल,
दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल।—प्रसाद

ढुलकते हिम जल से लोचन
अधखिला तन अखिला मन
धूलि से भरा स्वभाव दुकूल
मदुल छवि चंचल सरलपन,
स्वविस्मित से गुलाब के फूल
तुम्हीं सा था मेरा बचपन।—पंत

आदि म सजल आकाश और किरण रञ्जित मेघ से मनु और श्रद्धा के जीवन का जो परिचय प्राप्त होता है गुलाब के विस्मित जसे अधखिले फूल और मनुष्य के शैशव का जो एक चित्र मिलता है वह अपनी परिधि मे प्रकृति और जीवन का रूप दर्शन ही नही स्पन्दन भी घेरना चाहता है अत भाव चित्र ही रूप गीत हो जाता है।

छायायुग के यथार्थ चित्र भी इसी तूलिका म अकित हुए हैं इसी से उनम एक प्रकार की सूक्ष्मता आ जाना स्वाभाविक है।

वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा सी म विधवा का दीप्त करुणा चना आ रहा मौन धैर्य सा म मनु के पुत्र का सात्त्विक व्यक्तित्व वह जलधर जिसम चपला या श्यामलता का नाम नही म श्रद्धा की पयानतिन जडता आदि इसी प्रवत्ति का परिचय देते हैं।

स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति हमारे लिए नवीन नही, क्योकि हमारे काव्य का एक महत्वपूर्ण अश ऐसी अभिव्यक्तियो पर आश्रित है। वेदगीतो की एक वहुत वडी सख्या आत्मवोध और स्वानुभूत उल्लास-विपाद को स्वीकृति देती है। संस्कृत और प्राकृत काव्यो मे वे रचनाएँ अशेप माधुर्यभरी हे, जिनमे दृश्य चित्रो के सहारे मनोभाव ही व्यक्त किये गये हे। निर्गुण काव्य मे आदि से अन्त तक, स्वानुभूत मिलन-विरह ही प्रेरक शक्ति है। सगुण-भक्तो के गीति-काव्य मे सुख-दु ख, सयोग-वियोग, आशा-निराशा आदि ने, जो मर्मस्पर्शिता पायी है, उसका श्रेय स्वानुभूति को ही दिया जायगा। सव प्रकार की अलकारिता से शून्य सरल लोकगीतो मे जो अन्तरतम तक प्रवेश कर जानेवाली भावतीव्रता है, वह भी स्वानुभूतिमयी ही मिलेगी।

इस प्रकार की अभिव्यक्तियो मे भाव रूप चाहता है, अत. शैली का कुछ सकेतमयी हो जाना सहज सम्भव है। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ तत्वचिन्तन का वहुत विकास हो जाने के कारण जीवन-रहस्यो को स्पष्ट करने के लिए एक सकेतात्मक शैली वहुत पहले वन चुकी थी। अरूप दर्शन से लेकर रूपात्मक काव्य-कला तक सव ने ऐसी शैली का प्रयोग किया है, जो परिचित के माध्यम से अपरिचित और स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म तक पहुँच सके।

अवश्य ही दर्शन और काव्य की शैलियो मे अन्तर है, परन्तु यह अन्तर रूपगत है तत्वगत नही, इसी से एक जीवन के रहस्य का मूल और दूसरी शाखा-पल्लव-फूल खोजती रही है।

कल्पना के सम्वन्ध मे यह स्मरण रखना उचित है कि वह स्वप्न से अधिक, ठोस धरती चाहती है। प्रायः परिचित और प्रिय वस्तुओ से सम्वन्ध रखने के कारण उसका विदेशीय होना सहज नही। विशेपत. प्रत्येक कवि और कलाकार अपने सस्कार, जीवन तथा वातावरण के प्रति इतना सजग सवेदनशील होता है कि उसकी कल्पना उसके ज्ञान और अनुभूतियो की चित्रमय व्याख्या वन जाती है।

प्रकृति के सौन्दर्य और पृथ्वी के ऐश्वर्य ने भारतीय कल्पना को जिन सुनहले-रुपहले रगो से रँग दिया था, वे तव से आज तक धुल नही सके। सभ्यता के आदिकाल मे ही यहाँ के तत्वदर्शक के विचार और अनुभूतियो मे कितने चटकीले रग उतर आये थे, इसका प्रमाण तत्कालीन काव्यगत कल्पनाएँ देती हैं।

परमतत्व हिरण्यगर्भ है, समुद्र रत्नाकर है, सूर्य दिन का मणि है, अग्नि हिरण्यकेश है, पृथ्वी रत्नप्रसू, हिरण्यगर्भा, वसुन्धरा आदि सज्ञाओ मे जगमगाती

के लिए आ खड़ा हुआ, तब राजनीति समाज, या य सभी ने उसे विस्मय से देखा।

काव्य में उसका ऐसा भावगत चित्रण कहाँ तक उपयुक्त था यह प्रश्न भी सम्भव है।

नारी की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में, उस समय तक बहुत से आन्दोलन चल चुके थे, उसके जीवन की कठोर सीमा रेखाओं को कोमल करने के लिए भी प्रयत्न हो रहे थे। अपने विशेष दृष्टिकोण और समय से प्रभावित कवियों ने उसे अपने भावजगत में जैसी मुक्ति दी, उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी विशेष ध्यान देने योग्य है। किसी को बहुत संकीर्ण बनाकर देखते देखते वह संकीर्ण हो जाता है तथा किसी को एक विशाल पृष्ठभूमि पर रखकर देखना उसे कुछ विशाल बनने की प्रेरणा देता है। सौन्दर्य की स्थूल जड़ता से मुक्ति मिलते ही नारी को प्रकृति के समान ही रहस्यमय शक्ति और सौन्दर्य प्राप्त हो गया जिसने उसके मानसिक जगत में विद्युत्सी सजीवता भी डाली।

कवि के लिए यह प्रवृत्ति कहाँ तक स्वाभाविक थी इसे प्रमाणित करने के लिए हमारे पास कला और संस्कृति का बहुत विकसित और अटूट क्रम है। यदि आदिम समय काल में भी पुरुष अपने पार्श्व में खड़ी नारी की रूपरेखा प्रकृति में देख सका और तब भी जीवन के व्यावहारिक धरातल पर ठहरने में समर्थ हो सका तो निश्चय ही यह प्रवृत्ति आज कोई ऐसा अपकार न करेगी। भारत यह दृष्टि इतना भारतीय रही कि जीवन में अनेक बार परीक्षित हो चुकी है। इसके अभाव में नारी को केवल विलास का साधन बनकर जीना पड़ा पर इस प्रवृत्ति के साथ उसके जीवन को विशेष शक्ति और व्यापकता मिल सकी। छाया युग की नारी चाहे अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए विशेष सुविधाएँ न प्राप्त कर सकी हो, पर उसकी शक्ति ने पुरुष की वासना-व्यवसायी दृष्टि को एक दीर्घ काल तक जहाँ का तहाँ ठहरा दिया—इसी से आज का क्षुत्क्षामयथार्थवादी पुरुष उस पर आघात किये बिना एक पग बढ़ने का भी अवकाश नहीं पाता।

इसके अतिरिक्त कलाकार के लिए सौन्दर्य में ही रहस्य की अनुभूति सहज है, अतः वह सौन्दर्य को इतिवृत्त बनाकर कहने का प्रयास नहीं करता। विशेषतः उस युग के कलाकार के लिए यह और भी कठिन है, जब बाह्य विषमताएँ पार कर आन्तरिक एकता स्पष्ट करना ही लक्ष्य रहे। जिन कारणों से कवि ने प्रकृति और जीवन के यथार्थ को कठिन रेखाओं से मुक्त करके उसमें सामजस्य की खोज की, उसी कारण से वह नारी को भी कठोर यथार्थ में बाँधकर काव्य में स्थापित न कर सका।

स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति हमारे लिए नवीन नही, क्योकि हमारे काव्य का एक महत्वपूर्ण अश ऐसी अभिव्यक्तियो पर आश्रित है। वेदगीतो की एक वहुत वडी सख्या आत्मवोध और स्वानुभूत उल्लास-विपाद को स्वीकृति देती है। सस्कृत और प्राकृत काव्यो मे वे रचनाएँ अशेप माधुर्यभरी हे, जिनमे दृश्य चित्रो के सहारे मनोभाव ही व्यक्त किये गये है। निर्गुण काव्य मे आदि से अन्त तक, स्वानुभूत मिलन-विरह ही प्रेरक शक्ति है। सगुण-भक्तो के गीति-काव्य मे सुख-दु ख, सयोग-वियोग, आशा-निराशा आदि ने, जो मर्मस्पर्शिता पायी है, उसका श्रेय स्वानुभूति को ही दिया जायगा। सव प्रकार की अलकारिता से शून्य सरल लोकगीतो मे जो अन्तरतम तक प्रवेश कर जानेवाली भावतीव्रता है, वह भी स्वानुभूतिमयी ही मिलेगी।

इस प्रकार की अभिव्यक्तियो मे भाव रूप चाहता हे, अत· शैली का कुछ सकेतमयी हो जाना सहज सम्भव है। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ तत्वचिन्तन का वहुत विकास हो जाने के कारण जीवन-रहस्यो को स्पष्ट करने के लिए एक सकेतात्मक शैली वहुत पहले वन चुकी थी। अरूप दर्शन से लेकर रूपात्मक काव्य-कला तक सव ने ऐसी शैली का प्रयोग किया है, जो परिचित के माध्यम से अपरिचित और स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म तक पहुँच सके।

अवश्य ही दर्शन और काव्य की शैलियो मे अन्तर है, परन्तु यह अन्तर रूपगत है तत्वगत नही, इसी से एक जीवन के रहस्य का मूल और दूसरी शाखा-पल्लव-फूल खोजती रही है।

कल्पना के सम्वन्ध मे यह स्मरण रखना उचित है कि वह स्वप्न से अधिक, ठोस धरती चाहती है। प्रायः परिचित और प्रिय वस्तुओ से सम्वन्ध रखने के कारण उसका विदेशीय होना सहज नही। विशेपत. प्रत्येक कवि और कलाकार अपने सस्कार, जीवन तथा वातावरण के प्रति इतना सजग सवेदनशील होता है कि उसकी कल्पना उसके ज्ञान और अनुभूतियो की चित्रमय व्याख्या वन जाती है।

प्रकृति के सौन्दर्य और पृथ्वी के ऐश्वर्य ने भारतीय कल्पना को जिन सुनहले-रुपहले रगो से रँग दिया था, वे तव से आज तक धुल नही सके। सभ्यता के आदिकाल मे ही यहाँ के तत्वदर्शक के विचार और अनुभूतियो मे कितने चटकीले रंग उतर आये थे, इसका प्रमाण तत्कालीन काव्यगत कल्पनाएँ देती हैं।

परमतत्व हिरण्यगर्भ है, समुद्र रत्नाकर है, सूर्य दिन का मणि है, अग्नि हिरण्यकेश है, पृथ्वी रत्नप्रसू, हिरण्यगर्भा, वसुन्धरा आदि सज्ञाओ मे जगमगाती

े साथ मिल जाती है, तब उन दोनो के बीच म विभाजन के लिए बहुत सूक्ष्म रेखा रहती है।

भारतेन्दु युग म हम गद्य व्यापक करुणा को छाया के नाच दग तो टूट गा ए चित्र बनते बिगड़ते देखते हैं। पौराणिक चरित्रो की गाज करुण भावना की ामान्यता के लिए होती है और ग्ग, समाज ग्रादि का यथाथ चित्रण व्यक्तिगत वेषाद का विस्तार देता है। खडी बोली के कवि सस्कृत काव्य-साहित्य के ौर ग्रधिक निकट पहुच जाते हैं। प्रिय प्रवास की राधा और साकेत की उर्मिला ा, नये वातावरण म पुनजन्म उसी सनातन करुणा का प्रेरणा है और राष्ट्र ीता और सामाजिक चित्रण म व्यक्तिगत विषाद को समष्टिगत ग्रभिव्यक्ति मेली है।

छायायुग का काव्य स्वानुभूतिमयी रचनाओ पर आश्रित है अत व्यापक रुण भाव और व्यक्तिगत विषाद के बीच की रेखा और भी ग्रस्पष्ट हो जाती है। गीत म गाया हुआ पराया दु ख भी ग्रपना हो जाता है और ग्रपना भी ावका इसी से व्यक्तिगत हार से उत्पन्न व्यथा एव समष्टिगत करुण भाव म कुरस जान पडती है।

इस व्यक्तिप्रधान युग म व्यक्तिगत सुख-दु ख ग्रपनी ग्रभिव्यक्ति के लिए याकुल थे, ग्रत छायायुग का काव्य स्वानुभूति प्रधान होने के कारण वयक्तिक उल्लास विषाद की ग्रभिव्यक्ति का सफल माध्यम बन सका।

समष्टिगत जीवन की वाह्य विकृति और ग्रान्तरिक विषमता की ग्रनुभूति से उत्पन्न करुण भाव जो रूप पा सकता था वह भी गायक से भिन्न कोई स्थिति नही रखता था। वणनात्मक काव्यो म जो प्रवत्ति कवि की सूक्ष्म दृष्टि और उसके हृदय की सवेदनशीलता को व्यक्त करती, वह स्वानुभूतिमयी रचनाओ म उसका वयक्तिक विषाद बनकर उपस्थित हो सकी। ग्रत इस विषाद के विस्तार म दूसरे केवल उसी का हाहाकार और उस प्रेरणा देनेवाली मानसिक स्थिति खोज खोजकर थकने लगे।

कामायनी म बुद्धि और हृदय के समन्वय के द्वारा जीवन म सामजस्य लाने का जो चिन्त है वह कवि का स्वभावगत सस्कार है क्षणिक उत्तेजना नही। इस सामजस्य का सकेत सब प्रतिनिधि रचनाओ म मिलेगा।

करुण भाव के प्रति कवियो का झुकाव भारतीय सस्कार के कारण है पर उसे और अधिक बल सामयिक परिस्थितियो से मिल सका।

कौन प्रकृति के करुण काव्य सा
वृक्ष पत्र की मधुछाया मे,
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है
अमृत सदृश नश्वर काया मे ?

जिससे कन-कन मे स्पन्दन हो,
मन में मलयानिल चन्दन हो,
करुणा का नव अभिनन्दन हो,
वह जीवन-गीत सुना जा रे !
—प्रसाद

विश्व-वाणी ही है क्रन्दन
विश्व का काव्य अश्रु-कन :

वेदना ही के सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व इसका परमपद
वेदना ही का मनोहर रूप है ;
—पन्त

मेरा आकुल क्रन्दन
व्याकुल वह स्वर-सरित-हिलोर,
वायु में भरती करुण मरोर
बढ़ती है तेरी ओर ;
मेरे ही क्रन्दन से उमड़ रहा यह तेरा सागर सदा अधीर !
—निराला

इस विषाद मे व्यक्तिगत दुःखों का प्रकटीकरण न होकर उस शाश्वत करुणा की ओर सकेत है, जो जीवन को सब ओर से स्पर्श कर एक स्निग्ध उज्ज्वलता देती है ।

भारतीय दर्शन, काव्य आदि ने इस तरल सामजस्यभाव को भिन्न-भिन्न नामो से स्मरण किया है, पर वे इसे पूर्णत. भूल नहीं सके ।

व्यक्तिगत सुखदु.ख की अभिव्यक्तियाँ भी मार्मिक हो सकी, पर वे छाया-

के साथ मिल जाता है, तब उन दोनों के बीच में विभाजन के लिए बहुत सूक्ष्म रेखा रहती है।

भारतेन्दु युग में हम एक व्यापक करुणा की छाया के नीचे देश की दुर्दशा के चित्र बनते बिगड़ते देखते हैं। पौराणिक चरित्रों की खोज करुणा भावना की सामान्यता के लिए होती है और देश समाज आदि का यथार्थ चित्रण व्यक्तिगत विषाद का विस्तार देता है। खड़ी बोली के कवि संस्कृत काव्य-साहित्य के और अधिक निकट पहुँच जाते हैं। प्रिय प्रवास की राधा और साकेत की उर्मिला का, नये वातावरण में पुनर्जन्म उसी सनातन करुणा की प्रेरणा है और राष्ट्रगीतों और सामाजिक चित्रण में व्यक्तिगत विषाद को समष्टिगत अभिव्यक्ति मिली है।

छायायुग का काव्य स्वानुभूतिमयी रचनाओं पर आश्रित है अतः व्यापक करुणा भाव और व्यक्तिगत विषाद के बीच की रेखा और भी अस्पष्ट हो जाती है। गीत में गाया हुआ पराया दुःख भी अपना हो जाता है और अपना भी सबका। इसी से व्यक्तिगत हार से त्रस्त्र दशा एक समष्टिगत करुण भाव में एकरस जान पड़ता है।

इस व्यक्तिप्रधान युग में व्यक्तिगत सुख दुःख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे अतः छायायुग का काव्य स्वानुभूति प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास विषाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बन सका।

समष्टिगत जीवन की बाह्य विकृति और आन्तरिक विषमता की अनुभूति से उत्पन्न करुण भाव जो रूप पा सकता था वह भी गायक से भिन्न कोई स्थिति नहीं रखता था। वर्णनात्मक काव्यों में जो प्रवृत्ति कवि की सूक्ष्म दृष्टि और उसके हृदय की संवेदनशीलता को व्यक्त करती वह स्वानुभूतिमयी रचनाओं में उनका वैयक्तिक विषाद बनकर उपस्थित हो सकी। अतः इस विषाद के विस्तार में दूसरे केवल उसी का हाहाकार और उसे प्रेरणा देनेवाली मानसिक स्थिति खोज खोजकर थकने लगे।

कामायनी में बुद्धि और हृदय के समन्वय के द्वारा जीवन में सामंजस्य लाने का जो चित्र है, वह कवि का स्वभावगत संस्कार है क्षणिक उत्तेजना नहीं। इस सामंजस्य का संकेत सब प्रतिनिधि रचनाओं में मिलेगा।

करुण भाव के प्रति कवियों का झुकाव भारतीय संस्कार के कारण है पर उसे और अधिक बल सामयिक परिस्थितियों से मिल सका।

कौन प्रकृति के करुण काव्य सा
वृक्ष पत्र की मधुछाया मे,
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है
अमृत सदृश नश्वर काया मे ?

जिससे कन-कन में स्पन्दन हो,
मन में मलयानिल चन्दन हो,
करुणा का नव अभिनन्दन हो,
वह जीवन-गीत सुना जा रे !
—प्रसाद

विश्व-वाणी ही है क्रन्दन
विश्व का काव्य अश्रु-कन !

वेदना ही के सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व इसका परमपद
वेदना ही का मनोहर रूप है ;
—पन्त

मेरा आकुल क्रन्दन
व्याकुल वह स्वर-सरित-हिलोर,
वायु में भरती करुण मरोर
बढ़ती है तेरी ओर ;
मेरे ही क्रन्दन से उमड़ रहा यह तेरा सागर सदा अधीर !
—निराला

इस विषाद मे व्यक्तिगत दु खो का प्रकटीकरण न होकर उस शाश्वत करुणा की ओर सकेत है, जो जीवन को सब ओर से स्पर्श कर एक स्निग्ध उज्ज्वलता देती है।

भारतीय दर्शन, काव्य आदि ने इस तरल सामजस्यभाव को भिन्न-भिन्न नामो से स्मरण किया है, पर वे इसे पूर्णत. भूल नही सके।

व्यक्तिगत सुखदु ख की अभिव्यक्तियाँ भी मार्मिक हो सकी, पर वे छाया-

युग क सववाद स इस प्रकार प्रभावित हैं कि उन्हे स्वतन्त्र अस्तित्व मिलना कठिन हो गया।

व्यापक चेतना से व्यष्टिगत चेतना की एकता क भावन ने पुरानी रहस्य प्रवत्ति को नया रूप दिया। धम और समाज के क्षेत्र मे विधि विधान इतने कृत्रिम हो चुके थ कि जीवन उनसे विरक्त होने लगा। अपने व्यक्तिगत जीवन और सामयिक प्रभाव के कारण कवि क लिए रहस्य सम्बन्धी साधनापद्धति को अपनाना सहज नहा था पर सामजस्य की भावना और जीवनगत अपूर्णता की अनुभूति ने उसके काव्य पर करुणा का एसा अन्तरिक्ष बुन दिया जिसकी छाया म दु ख ही नही सुख क भी सब रग बनते मिटते रह।

राष्ट्र की विषम परिस्थितियों ने भी छायायुग की करुणा म एक रहस्यमयी स्थिति पायी। जसे परम तत्त्व से तादात्म्य क लिए विकल आत्मा का क्रन्दन व्यापक है वसे ही राष्ट्रतत्त्व की मुक्ति म अपनी मुक्ति चाहने वाली राष्ट्रात्मा का विषाद भी विस्तृत है।

किसी भी युग म एक प्रवत्ति के प्रधान होने पर दूसरी प्रवत्तियाँ नष्ट नहीं हो जाती गौण रूप स विकास पाती रहती हैं। छायायुग म भी यथार्थवाद, निराशावाद और सुखवाद की बहुत सी प्रवत्तियाँ अप्रधान रूप से अपना अस्तित्व बनाये रह सकी, जिनम स अनेक अब अधिक स्पष्टरूप म अपना परिचय दे रही हैं। स्वय छायावाद तो करुणा की छाया म सौन्दय के माध्यम से व्यक्त होने वाला भावात्मक सववाद ही रहा है और उसी रूप म उसकी उपयोगिता है। इस रूप म उसका किसी विचारधारा या भावधारा स विरोध नही वरन आभार ही अधिक है क्याकि भाषा छन्द कथन की विशेष शली आदि की दृष्टि स उसने अपने प्रयोगा का फल ही आज क यथार्थवाद को सौंपा है।

इस आदान मे तो यथार्थोन्मुख विचारधारा का असहयोग नहा वह केवल उसकी आत्मा के उस अक्षय सौन्दय पर आघात करना चाहती है जो इस दश की सास्कृतिक परम्परा की धरोहर है। जब तक इस आकाश म अनन्त रग हैं इस पृथ्वी पर अनन्त सौन्दय है जब तक यहाँ की ग्रामीणा, शालि खेत स मन्द भेजना नही भूलती किसान चना चान्दी और आकाश की घटाओं को मूर्तिमत्ता देना नही छोड़ता तब तक काव्य म भी यह प्रवत्ति रहगी। छायावाद का भविष्य कवल यथाथ क हाथ म भी नहा क्याकि वह इस धरती और आकाश म बँधा है।

सास्कृतिक विकास की दृष्टि स हमारे यहाँ का घोर अनिश्चित भी विशेष महत्त्व रखता है क्योकि दशन जस गूढ़ विषय स लकर श्रम जस सरल विषय

तक उसकी अच्छी पहुँच है। हमारे सास्कृतिक मूल्यो के पीछे कई हजार वर्ष का इतिहास है, अत इन मिट्टी के सब अणु उसका स्पर्श कर चुके हो तो आश्चर्य नही।

पुरातन सांस्कृतिक मूल्यो के सम्बन्ध मे यदि आज का यथार्थवादी इस युग के सबसे पूर्ण और कर्मठ यथार्थदर्शी लेनिन के शब्दो को स्मरण रख सके, तो सम्भवत वह यथार्थ का भी उपकार करेगा और अपना भी—

'We must retain the beautiful, take it as an example, hold on to it even though it is old. Why turn away from real beauty, and discard it for good and all as a starting point for further development just because it is old? Why worship the new as the god to be obeyed just because it is the new? That is nonsense, sheer nonsense. There is a great deal of conventional art hypocrisy in it too and respect for the art fashions of the west.'

(Lenin—the man)

(हमे, जो सुन्दर है उसे ग्रहण करना, आदर्श के रूप मे स्वीकार करना और सुरक्षित रखना चाहिए चाहे वह पुराना हो। केवल पुरातन होने के कारण वास्तविक सौंदर्य से विरक्ति क्यो और नवीन के विकास के लिए उसे सदा को त्याग देना अनिवार्य क्यों? जिसका अनुशासन मानना ही होगा, ऐसे देवता के समान नवीनता की पूजा किस लिए? यह तो अर्थहीन है—नितान्त अर्थहीन! इस प्रवृत्ति मे कला की रूढिगत कृत्रिमता और पश्चिम की कला-रूढियो के प्रति सम्मान का भाव ही अधिक है।)

आधुनिक युग का सबसे समर्थ कर्मनिष्ठ अध्यात्मद्रष्टा भी अपनी सस्कृति को महत्व देकर उसी 'वास्तविक सौन्दर्य' की ओर सकेत करता है—

'मेरा तो निश्चित मत है कि दुनिया मे किसी सस्कृति का भण्डार इतना भरा-पूरा नही, जितना हमारी सस्कृति का। इस देश की सस्कृति-गगा मे अनेक सस्कृति रूपी सहायक नदियाँ आकर मिली है। इन सबका कोई सन्देश हमारे लिए हो सकता है तो यही कि हम सारी दुनिया को अपनावे। जीवन जड दीवारो से विभक्त नही किया जा सकता। समस्त कला अन्तर के विकास का आविर्भाव है। हमारी अन्त स्थ सुप्त भावनाओं को जाग्रत करने

का सामथ्य जिसम होता है वह कवि है । अपनी अपूर्णता महसूस करना, प्रगति का पहला कदम है ।

—महात्मा गांधी

हम आँधी तूफान के एवं ध्वसमय युग के बीच में हैं जिसे पार कर लेने पर जीवन के सर्वतोमुखी निर्माण का कार्य स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य हो उठेगा । निर्माण के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हम जीवन की मूल प्रवृत्तियों के स्रष्टा नहीं बन सकते केवल नवीन परिस्थितियों में उनका समुचित उपयोग ही हमारा सृजन कहा जायगा । करुणा प्रेम, द्वेष क्रोध आदि मूल भावों पर सभी मनुष्यों का जन्माधिकार है, पर इन मूल भावों का विकास मानव ही नहीं, उसे घेरनेवाले वातावरण पर भी निर्भर रहता है । इसी कारण किसी मनुष्य-समूह में चिन्तनशीलता का आधिक्य मिलेगा, किसी में युद्ध प्रेम ही प्रधान जान पड़ेगा किसी में व्यवसाय-कौशल की ही विशेषता रहेगी और किसी में भावुक कलाकार ही सुलभ होंगे । बाह्य परिस्थितियों के कारण बहुत सी स्वस्थ प्रवृत्तियाँ दब जाती हैं बहुत सी अस्वस्थ प्रधानता पाने लगती हैं । जीवनव्यापी निर्माण के लिए इन्हीं प्रवृत्तियों की निष्पक्ष परीक्षा और उनका स्वस्थ उपयोग अपेक्षित रहेगा और इस कार्य के लिए वे व्यक्ति अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे, जो सम्पूर्ण अतीत को विक्षिप्तों की क्रियाशीलता कहकर छुट्टी नहीं पा लेते ।

साहित्य काव्य, कला आदि केवल मूल प्रवृत्तियों के विविध परिष्कार क्रम के इतिहास हैं अतः कलाकार इन प्रवृत्तियों को अपने युगविशेष की सम्पत्ति समझ कर और अतीत के सारे सांस्कृतिक और साहित्यिक मूल्यों को भूलकर लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाता ।

पिछले अनेक वर्षों की विषम परिस्थितियों ने हमारे जीवन को छिन्न भिन्न कर डाला है । कलाकार यदि उस विभाजन को और छोटे छोटे खण्डों में विभाजित करता रहे तो वह जीवन के लिए एक नया अभिशाप सिद्ध होगा । उसे सामंजस्य की ओर चलना है अतः जीवन की मूल प्रवृत्तियाँ उनका सांस्कृतिक मूल्य उन मूल्यों का आज की परिस्थिति में उपयोग आदि का ज्ञान न रहने पर उसकी यात्रा भटकना मात्र भी हो सकती है ।

केवल पुरातन या नवीन होने से कोई काव्य उत्कृष्ट या साधारण नहीं हो सकेगा, इसी से कवि-गुरु कालिदास को कहना पड़ा—

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।

अतीत और वर्तमान के आदान-प्रदान के सम्बन्ध मे छायायुग के प्रतिनिधि कवि की इस उक्ति मे सरल सौंदर्य ही नही, मार्मिक सत्य भी है—

शिशु पाते हैं माताओं के
वक्षःस्थल पर भूला गान,
माताएँ भी पातीं शिशु के
अधरों पर अपनी मुस्कान !—निराला

रहस्यवाद

१०

जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में, कवि ने एक ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया, जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध में मानव हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी, क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता, तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती, तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना, जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया।

रहस्यवाद नाम के अर्थ में छायावाद के समान नवीन न होने पर भी प्रयोग के अर्थ में विशेष प्राचीन नहीं। प्राचीनकाल में परा या ब्रह्मविद्या में इसका अंकुर मिलता अवश्य है, परन्तु इसके रागात्मक रूप के लिए उसमें स्थान कहाँ? वेदान्त के द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि या आत्मा की लौकिकी-पारलौकिकी सत्ता विषयक मतान्तर, मस्तिष्क से अधिक सम्बन्ध रखते हैं, हृदय से कम, क्योंकि वही तो शुद्ध-बुद्ध चेतन को विकारों में लपेट रखने का एकमात्र साधन है। योग का रहस्यवाद इन्द्रियों को पूर्णतः वश में करके आत्मा का कुछ विशेष साधनाओं और अभ्यासों द्वारा इतना ऊपर उठ जाना है, जहाँ वह शुद्ध चेतन में एकाकार हो जाता है।

सूफीमत के रहस्यवाद में अवश्य ही प्रेम-जनित आत्मानुभूति और चिरन्तन प्रियतम का विरह समाविष्ट है, परन्तु साधनाओं और अभ्यासों में वह भी योग के

समकक्ष रखा जा सकता है और हमारे यहाँ कबीर का रहस्यवाद, यौगिक क्रियाओं से युक्त होने के कारण योग, परन्तु आत्मा और परमात्मा के मानवीय प्रेम-सम्बन्ध के कारण, वैष्णव-युग के उच्चतम कोटि तक पहुँचे हुए प्रणय-निवेदन से भिन्न नहीं।

आज गीत मे हम जिसे रहस्यवाद के रूप मे ग्रहण कर रहे हे, वह इन सब की विशेपताओ से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न हे। उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के साकेतिक दाम्पत्य-भाव-सूत्र मे बाँध-कर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्बन दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका। इसमे सन्देह नही कि इस वाद ने रूढि बनकर बहुतो को भ्रम मे भी डाल दिया हे, परन्तु जिन इने-गिने व्यक्तियो ने इसे वास्तव मे समझा, उन्हे इस नीहार लोक मे भी गन्तव्य मार्ग स्पष्ट दिखाई दे सका। इस काव्य-धारा की अपार्थिव पार्थिवता और साधना-न्यूनता ने सहज ही सबको अपनी ओर आकर्पित कर लिया है, अत. यदि इसका रूप कुछ विकृत होता जा रहा है तो आश्चर्य की बात नहीं। हम यह समझ नहीं सके हे कि रहस्यवाद आत्मा का गुण हे, काव्य का नही।

यह युग पाश्चात्य साहित्य और बगाल की नवीन काव्यधारा से परिचित तो था ही, साथ ही उसके सामने रहस्यवाद की भारतीय परम्परा भी रही।

जो रहस्यानुभूति हमारे ज्ञानक्षेत्र मे एक सिद्धान्तमात्र थी, वही हृदय की कोमलतम भावनाओ मे प्राणप्रतिष्ठा पाकर तथा प्रेममार्गी सूफी सन्तो के प्रेम मे अतिरजित होकर, ऐसे कलात्मक रूप मे अवतीर्ण हुई, जिसने मनुष्य के हृदय और बुद्धिपक्ष दोनो को सन्तुष्ट कर दिया। एक ओर कबीर के हठयोग की साधना-रूपी सम-विपम शिलाओ से बँधा हुआ और दूसरी ओर जायसी के विशद प्रेम-विरह की कोमलतम अनुभूतियो की वेला मे उन्मुक्त, यह रहस्य का समुद्र आधुनिक युग को क्या दे सका है, यह अभी कहना कठिन होगा। इतना निश्चित है कि इस वस्तुवाद प्रधान युग मे भी वह अनादृत नही हुआ, चाहे इसका कारण मनुष्य की रहस्योन्मुख प्रवृत्ति हो और चाहे उसकी लौकिक रूपको मे सुन्दरतम अभिव्यक्ति।

इस बुद्धिवाद के युग मे मनुष्य, भावपक्ष की सहायता से अपने जीवन को कसने के लिए कोमल कसौटियाँ क्यो प्रस्तुत करे, भावना की साकारता के लिए

अध्यात्म की पारिभाषा क्या माजता फिर और परोक्ष अध्यात्म का प्रत्यक्ष जगत में क्या प्रतिष्ठित कर यह सभी प्रश्न सामयिक हैं। पर इनका उत्तर केवल बुद्धि से दिया जा सकता, ऐसा सम्भव नहीं जान पड़ता क्योंकि बुद्धि का प्रत्येक समाधान अपने साथ प्रश्नों की बड़ी संख्या उत्पन्न कर लेता है।

साधारणतः अन्य व्यक्तियों के समान ही कवि की स्थिति भी प्रत्यक्ष जगत् की व्यष्टि और समष्टि दोनों ही में है। एक में वह अपनी इकाई में पूर्ण है और दूसरी में वह अपनी इकाई से बाह्य जगत की इकाई को पूर्ण करता है। उसके अन्तर्जगत का विकास ऐसा होना आवश्यक है, जो उसके व्यष्टिगत जीवन का विकास और परिष्कार करता हुआ समष्टिगत जीवन के साथ उसका सामञ्जस्य स्थापित कर दे। मनुष्य के पास इसके लिए केवल दो ही उपाय हैं बुद्धि का विकास और भावना का परिष्कार। परन्तु केवल बौद्धिक निरूपण जीवन के मूल तत्वों की व्याख्या कर सकता है उनका परिष्कार नहीं जो जीवन के सर्वतोमुखी विकास के लिए अपेक्षित है और केवल भावना जीवन को गति दे सकती दिशा नहीं।

भावातिरेक को हम अपनी क्रियाशीलता का एक विशिष्ट रूपान्तर मान सकते हैं जो एक ही क्षण में हमारे सम्पूर्ण अन्तर्जगत को स्पर्श कर बाह्य जगत् में अपनी अभिव्यक्ति के लिए अस्थिर हो उठती है, पर बुद्धि के दिशानिर्देशक अभाव में इन भावप्रवण के लिए अपनी व्यापकता की सीमाएँ खोज लेना कठिन हो जाता है अतः दोनों का उचित मात्रा में सन्तुलन ही अपेक्षित रहेगा।

कवि ही नहीं प्रत्येक कलाकार को अपने व्यष्टिगत जीवन की गहराई और समष्टिगत चेतना का विस्तार देनेवाली अनुभूतियों को भावना के साँचे में ढालना पड़ा है। हम निष्क्रिय बुद्धिवाद और स्पन्दनहीन वस्तुवाद के लम्बे पथ को पार कर कदाचित् फिर चिर नवेदन रूप सक्रिय भावना में जीवन के परमाणु खोजने लगे ऐसी मेरी व्यक्तिगत धारणा है।

कविता के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि उचित है या नहीं इसका निर्णय व्यक्तिगत चेतना ही कर सकेगी। जो कुछ स्थूल व्यक्त प्रत्यक्ष और यथार्थ नहीं है यदि केवल वही अध्यात्म से अभिप्रेत है तो हम यह सौंदर्य शील शक्ति प्रेम आदि की सभी सूक्ष्म भावनाओं में फैला हुआ अनेक अव्यक्त सत्य सम्बन्धी धारणाओं में अङ्कुरित, इन्द्रियानुभूत प्रत्यक्ष की अपूर्णता से उत्पन्न उसी की परोक्ष रूप भावना में छिपा हुआ और अपनी ऊर्ध्वगामी वृत्तियों से निर्मित विश्वबन्धुता, मानवधर्म आदि के ऊँचे आदर्शों में अनुप्राणित मिलेगा। यदि परम्परागत धार्मिक रूढ़ियों को हम अध्यात्म की संज्ञा देते हैं, तो उस रूप में काव्य में उसका महत्त्व

नही रहता। इस कथन मे अध्यात्म को वलात् लोकसग्रही रूप देने का या अस्वीकार करने का कोई आग्रह नही है। अवश्य ही वह अपने ऐकान्तिक रूप मे भी सफल है, परन्तु इस अरूपरूप की अभिव्यक्ति लौकिक रूपको मे ही तो सम्भवहोगी।

जायसी की परोक्षानुभूति चाहे जितनी ऐकान्तिक रही हो, परन्तु उनकी मिलन-विरह की मधुर और मर्मस्पर्शिनी अभिव्यजना क्या किसी लोकोत्तर लोक से रूपक लायी थी? हम चाहे आध्यात्मिक सकेतो से अपरिचित हो, परन्तु उनकी लौकिक कला-रूप सप्राणता से हमारा पूर्ण परिचय है। कवीर की कान्तिक रहस्यानुभूति के सम्वन्ध मे भी यही सत्य है।

वास्तव मे लोक के विविध रूपो की एकता पर स्थित अनुभूतियाँ लोक-विरोधिनी नही होती, परन्तु ऐकान्तिक रूप के कारण अपनी व्यापकता के लिए, वे व्यक्ति की कलात्मक सवेदनीयता पर अधिक आश्रित हैं। यदि ये अनुभूतियाँ हमारे ज्ञानक्षेत्र मे कुछ दार्शनिक सिद्धान्तो के रूप मे परिवर्तित न हो जावे, अध्यात्म की सूक्ष्म से स्थूल होती चलनेवाली पृष्ठभूमि पर धारणाओ की रूढि मात्र न वन जावे तो भावपक्ष मे प्रस्फुटित होकर जीवन और काव्य दोनो को एक परिष्कृत और अभिनव रूप देती हैं।

हमारी अन्त शक्ति भी एक रहस्य से पूर्ण है और वाह्य जगत का विकास-क्रम भी, अत जीवन मे ऐसे अनेक क्षण आते रहते है, जिनमे हम इस रहस्य के प्रति जागरूक हो जाते ह। इस रहस्य का आभास या अनुभूति मनुष्य के लिए स्वाभाविक रही है, अन्यथा हम सभी देशो के समृद्ध काव्य-साहित्य मे किसी न किसी रूप मे इस रहस्यभावना का परिचय न पाते। न वही काव्य हेय है, जो अपनी साकारता के लिए केवल स्थूल और व्यक्त जगत् पर आश्रित है और न वही, जो अपनी सप्राणता के लिए रहस्यानुभूति पर। वास्तव मे दोनो ही मनुष्य के मानसिक जगत् की मूर्त्त और वाह्य जगत् की अमूर्त्त भावनाओ की कलात्मक समष्टि है। जब कोई कविता काव्यकला की सर्वमान्य कसौटी पर नही कसी जा सकती, तव उसका कारण विपय-विशेप न होकर कवि की असमर्थता ही रहती है।

हमारे मूर्त्त और अमूर्त्त जगत् एक दूसरे से इस प्रकार मिले हुए है कि एक का यथार्थदर्शी दूसरे का रहस्यद्रष्टा वन कर ही पूर्णता पाता है।

इस अखण्ड और व्यापक चेतना के प्रति कवि का आत्मसमर्पण सम्भव है या नही, इसका जो उत्तर अनेक युगो से रहस्यात्मक कृतियाँ देती आ रही है, वही पर्याप्त होना चाहिए। अलौकिक रहस्यानुभूति भी अभिव्यक्ति मे लौकिक ही रहेगी। विश्व के चित्रफलक पर सौन्दर्य के रग और रूपो के रेखाजाल से

बना चित्र, यदि अपनी रसात्मकता द्वारा हमारे लिए मूर्त का दान और अमूर्त का भावन सहज कर देता है तो तर्क व्यर्थ होगा। यह तो ऐसा है जैसे किसी के अक्षयघट से प्यास बुझा चुकने पर विवाद करना कि उसने कूप क्या खोदा जब धरती के ऊपर भी पानी था, क्योंकि उसने धरती के ही अन्तर की अविभक्त सजलता का पता दिया है। पर यह सत्य है कि इस धरातल पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का सम्बन्ध बनाये रखने के लिए बुद्धि और हृदय की असाधारण एकता चाहिए।

अलौकिक आत्मसमर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होगा। स्वभाव से मनुष्य अपूर्ण है और अपनी अपूर्णता के प्रति सजग भी। अतः किसी उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौन्दर्य या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है। आदर्श समर्पित व्यक्तियों में संसार के असाधारण कर्मनिष्ठ मिलेंगे, सौन्दर्य से तादात्म्य के इच्छुकों में श्रेष्ठ कलाकारों की स्थिति है और व्यक्तित्व-समर्पण ने हमें साधक और भक्त दिये हैं।

अखण्ड चेतन से तादात्म्य का रूप केवल बौद्धिक भी हो सकता है, पर रहस्यानुभूति में बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है। इस प्रकार रहस्यवादी का आत्मसमर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौन्दर्य की प्रत्यक्ष विविधता तक फैल जाने की क्षमता रखता है अतः उसमें सत् और चित् का एकता में आनन्द सहज सम्भव रहेगा।

रहस्योपासक का आत्मसमर्पण हृदय की ऐसी आवश्यकता है जिसमें हृदय की सीमा एक असीमता में अपनी ही अभिव्यक्ति चाहती है। हृदय के अनेक रागात्मक सम्बन्धों में माधुर्यभावमूलक प्रेम ही उस सामंजस्य तक पहुंच सकता है जो सब रेखाओं में रंग भर सके, सब रूपों को सजीवता दे सके और आत्मनिवेदक को इष्ट के साथ समता के धरातल पर खड़ा कर सके। भक्त और उसके इष्ट के बीच में वरदान की स्थिति सम्भव है, जो इष्ट नहीं इष्ट का अनुग्रहदान कहा जा सकता है। माधुर्यभावमूलक प्रेम में आधार और आधेय का तादात्म्य अपेक्षित है और यह तादात्म्य उपासक ही सहज कर सकता है, उपास्य नहीं। इसी से तन्मय रहस्योपासक के लिए आदान सम्भव नहीं, पर प्रदान या आत्मदान उसका स्वभावगत धर्म है।

अनन्त रूपों की समष्टि के पीछे छिपे चेतन का तो कोई रूप नहीं। अतः उसके निकट ऐसा माधुर्यभावमूलक आत्मनिवेदन कुछ उलझन उत्पन्न करता रहा है। यदि हम ध्यान से देखें तो स्थूल जगत में जो ऐसा आत्मसमर्पण मनुष्य

के अन्तर्जगत् पर ही निर्भर मिलेगा। एक व्यक्ति जिसके निकट अपने आपको पूर्ण रूप से निवेदित करके सन्तोष का अनुभव करता है, वह सौन्दर्य, गुण, शक्ति आदि की दृष्टि से सबको विशिष्ट जान पडे, ऐसा कोई नियम नही। प्राय एक के अटूट स्नेह, भक्ति आदि का आधार, दूसरे के सामने इतने अपूर्ण और साधारण रूप मे उपस्थित हो सकता हे कि वह उसे किसी भाव का आलम्बन ही न स्वीकार करे। कारण स्पष्ट है। मनुष्य अपने अन्तर्जगत् मे जो कुछ भव्य छिपाये हुए है, वह जिसमे प्रतिविम्वित जान पडता है, उसके निकट आत्मनिवेदन स्वाभाविक ही रहेगा। परन्तु यह आत्म-निवेदन लालसाजन्य आत्मसमर्पण से भिन्न है, क्योकि लालसा अन्तर्जगत् के सौन्दर्य की साकारता नही देखती, किसी स्थूल अभाव की पूर्ति पर केन्द्रित रहती है।

व्यावहारिक धरातल पर भी जिन व्यक्तियो का आत्मनिवेदन एकरस और जीवनव्यापी रह सका है, उनके अन्तर्जगत् और वाह्याधार मे ऐसा ही विम्व-प्रतिविम्व भाव मिलता है और यह भाव अन्तर्जगत् के विकास के साथ तव तक विकसित होता रहता है, जव तक वाह्याधार मे अन्तर्जगत् के विरोधी तत्त्व न मिलने लगे।

अवश्य ही सूक्ष्म जगत् के आत्मनिवेदन को स्थूल जगत् के आत्मसमर्पण के साम्य से समझना कठिन होगा। पर यह मान लेने पर कि मनुष्य का आत्म-निवेदन उसी के अन्तर्जगत् की प्रतिकृति खोजता है, सूक्ष्म का प्रश्न वहुत दुर्वोध नही रहता। रहस्यद्रष्टा जव खण्ड रूपो से चलकर अखण्ड और अरूप चेतन तक पहुँचता है, तव उसके लिए अपने अन्तर्जगत् के वैभव की अनुभूति भी सहज हो जाती है और वाह्यजगत् की सीमा की भी। अपनी व्यक्त अपूर्णता को अव्यक्त पूर्णता मे मिटा देने की इच्छा उसे आत्मदान की प्रेरणा देती है। यदि इस तादात्म्य के साथ माधुर्यभाव न होता, तो यह ज्ञाता और ज्ञेय की एकता वन जाता, भावभूमि पर आधार-आधेय की एकता नही।

प्रकृति के अस्त-व्यस्त सौन्दर्य मे रूपप्रतिष्ठा, विखरे रूपो मे गुणप्रतिष्ठा, फिर इनकी समष्टि मे एक व्यापक चेतना की प्रतिष्ठा और अन्त मे रहस्यानुभूति का जैसा क्रमवद्ध इतिहास हमारा प्राचीनतम काव्य देता है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन होगा।

जीवन के स्थूल धरातल पर कर्मनिष्ठ ऋषि जव 'अग्निना रयिमश्नवत्पोप-मेव दिवे दिवे यशस वीरवत्तमम्' (प्रतिदिन मनुष्य अग्नि के द्वारा पुष्टिदायक, कीर्तिजनक, वीर पुरुषो से युक्त समृद्धि प्राप्त करता है) कहता है, तव हमे आश्चर्य नही होता। पर जव यही वोध आकाश के अस्त-व्यस्त रगो मे नारी का

रूप दर्शन बनकर उपस्थित होता है, तब हम उनकी सी न्य दृष्टि पर विस्मित हुए बिना नहीं रहते ।

उषो देव्यमर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती ।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये ॥
ऋ० ३ ६१ २

(हे दमनीय कान्तिवाली ! अपने चन्द्र रथ पर सत्य को प्रसारित करती हुई आभासित हो। उत्तम नियन्त्रित हिरण्यवर्ण किरणाश्व तुम्हे दूर दूर तक पहुँचावें।)

बादलों के लानेवाले मरुद्गण की उपयोगिता जान लेनेवाले ऋषि, जब उन्हे वीर रूप में उपस्थित करते है तब हम उनके प्रकृति में चेतना के आरोप से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते।

अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे शुभः ।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः ॥
ऋ० ५-५४-११

(स्कन्ध पर भाले पैरों में पदत्राण वक्ष पर सुवर्णालंकार युक्त और रथ-शोभा करते वे हाथों में अग्नि के समान कान्तिमती विद्युत् है और ये सुवर्ण-खचित शिरस्त्राण धारण किए हैं।)

रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिपन्नाविर्दूतान्कृणुते वर्ष्याँ अह ।
ऋ० ५-८३ ३

(विद्युत् के कशाघात से बादल रूपी अश्वों को चलाते हुए रथी वीर के समान वर्षा के दूत उपस्थित हो गए हैं।)

इस प्रकार रूपों की प्रतिष्ठा और व्यापार की योजना के उपरान्त वे मनीषी अखण्ड रूप और व्यापक जीवन धर्म तक जा पहुंचते हैं।

इसके उपरान्त हम उनकी रहस्यानुभूति और उसमें उत्पन्न जिस आत्म निवेदन का परिचय मिलता है उसमें न रूपों की समष्टि है न व्यापारों की योजना प्रत्युत् वह अनुभूति किसी अव्यक्त चेतन से वैयक्तिक तादात्म्य की इच्छा से सम्बन्ध रखती है।

आ यद्रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत्समुद्रमीरयाव मध्यम् ।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम् ।।

ऋ० ७-८८-३

[मैं और मेरे वरणीय देव दोनो जब नाव पर चढकर उसे समुद्र के बीच मे ले गये तब जल के ऊपर सुख-शोभा प्राप्त करते हुए झूले मे (आदोलित तरगो मे) झूले ।]

क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुराचित् ।

ऋ० ७-८८-५

(हे वरणीय स्वामी ! हम दोनो का वह पूर्व का अविच्छिन्न सख्यभाव कहाँ गया जिसे मैं व्यर्थ खोजता हूँ ।)

उत स्वया तन्वा संवदे तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि ।

ऋ० ७-८६-२

(कब मैं अपने इस शरीर से उसकी स्तुति करूँगा, उसके साथ साक्षात् सवाद करूँगा और कब मैं उस वरण योग्य के हृदय के भीतर एक हो सकूँगा ।

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम् ।

ऋ० ७-८६-३

(हे वरणीय ! मैं दर्शनाकाक्षी होकर तुझसे अपना वह दोष पूछता हूँ जिसके कारण यहाँ बँधा हूँ । मैं दर्शन का अभिलाषी जिज्ञासु तेरे समीप आया हूँ ।)

ऋग्वेद के इस रहस्यात्मक अकुर ने दर्शन और काव्य मे जैसी विविधता पाई है, वह प्रत्येक जिज्ञासु के लिए विशेष आकर्षण रखती है ।

जैसे-जैसे यह हृदयगत आकुलता मस्तिष्क की सीमा के भीतर प्रवेश पाती जाती है, वैसे-वैसे एक चिन्तन-प्रधान जिज्ञासा अमरवेलि के समान फैलने लगती है, अत कवि प्रकृति के विविध रूपो पर चेतना का आरोप करके ही सन्तुष्ट नहीं होता । वह इस सम्बन्ध मे क्या और क्यो भी जानना चाहता है ।

क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः सविदाने ।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं त ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।।

अथर्व० १०-७-६

(विपरीत रूपवाले, गौर और श्याम दिन-रात कहाँ पहुँचने की अभिलाषा

करते जा रहे हैं ? ये सरिताएं जहाँ पहुँचने की अभिलाषा से चली जा रही हैं उस परम आश्रय को बताओ। वह कौन है ?)

> यत्र प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्नि यत्र प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा।
> यत्र प्रेप्स तीरभिपन्त्यावृत स्कम्भ त ब्रूहि कतम स्विदेव स ॥
> अथर्व १०-७-४

(यह सूर्य जिसकी अभिलाषा में दीप्तमान है ? यह पवन जहाँ पहुँचने की इच्छा से निरन्तर बहता है ? यह सब जहाँ पहुँचने के लिए चले जा रहे हैं उस आश्रय को बताओ। वह कौन सा पदार्थ है ?)

इस जिज्ञासा ने आगे चलकर व्यापक चेतन तत्त्व को प्रकृति के माध्यम से भी व्यक्त किया है और उसके बिना भी अतः उसकी सर्ववाद और आत्मवाद सम्बन्धी दो शाखाएँ हो गई।

> यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णव।
> अग्नि यश्चक्र आस्य तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम ॥
> अथर्व० १० ७ ३३

(सूर्य और पुन पुन नवीन रूप में उदित होनेवाला चन्द्रमा जिसकी दो आँखों के समान हैं जो अग्नि को अपने मुख के समान बनाये हुए है उस परम तत्त्व को नमन है।

> यस्य भूमि प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
> दिव यश्चक्रे मूर्धान तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम ॥
> अथर्व १०-७-३२

(भूमि जिसके चरण हैं अन्तरिक्ष उदर है और आकाश जिसका मस्तक है उस परम शक्ति को नमन है।)

इसी की छाया हम गीता के सर्ववाद में मिलती है।

> अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहु शशिसूर्यनेत्रम्।
> पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्र स्वतेजसा विश्वमिद तपन्तम् ॥

(तुम्हारा आदि मध्य और अवसान नहीं है तुम अनन्त शक्ति युक्त और अनन्त भुजाओंवाले हो सूर्य चन्द्र तुम्हारे नेत्र हैं दीप्त अग्नि मुख है। अपने तेज से विश्व को उद्भासित करनेवाले ! मैं तुम्हें देख रहा हूँ।)

यह सर्ववाद अधिक भागवत होकर भारतीय काव्य मे प्रकृति और जीवन को विविधता मे एकता देता रहा है ।

इस प्रवृत्ति ने प्रकृति मे दिव्य शक्तियो का आरोप भी सहज कर दिया है और उसे मानव जीवन के पग से पग मिलाकर चलने का अधिकार भी दे डाला है । हम मानव की वाह्यरूपरेखा के समान उसके अन्तर्निहित सौन्दर्य को भी प्रत्यक्ष देखते है और हृदय की धडकन के समान उसके गूढ स्पन्दन का भी अनुभव करते है ।

सस्कृत-काव्यो मे प्रकृति की सजीव रूपरेखा, उसका मानव सुख-दुखो के स्वर से स्वर मिलाना, जीवन का पग-पग पर उससे सहायता माँगना, इसी प्रवृत्ति के भिन्न रूप है ।

शकुन्तला के साथ पलने वाले वृक्ष-लता क्यो इतने सजीव है कि वह उनसे विदा माँगे विना पति के घर भी नही जा सकती, उत्तररामचरित की नदियाँ क्यो इतनी सहानुभूतिशीला है कि एकाकिनी सीता के लिए सखियाँ वन जाती है, यक्ष के निकट मेघ क्यो इतना अपना है कि वह उसे अपने विरही हृदय की गूढ व्यथा का वाहक वना लेता है, आदि प्रश्नो का उत्तर, उसी प्रवृत्ति मे मिलेगा जो चेतनतत्त्व को विश्वरूप देखती है ।

चिन्तन की ओर वढनेवाली जिज्ञासा ने भौतिक जगत् का कम से कम सहारा लेते हुए चेतना की एकता और व्यापकता स्थापित करने की चेष्टा की है—

एक पाद नोत्खिदति सलिलाद्धस उच्चरन ।
यदंग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन ॥

अथर्व० ११-४-२१

(यह हस (चेतन तत्त्व) एक पैर जल से (ससार से) ऊपर उठाकर भी दूसरा जल मे स्थिर रखता है । यदि वह उस चरण को भी उठा ले (मोक्षरूप मे पूर्णत असग हो जावे) तो न आज रहे न कल रहे, न रात्रि हो न दिन हो, न कभी उपाकाल हो सके ।)

वालादेकमणीयस्कमुतैक नैव दृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥

अथर्व० १०-८-२५

(एक वस्तु जो वाल से अत्यन्त सूक्ष्म और वह भी एक हो तो वह नही के

समान दिखाई देती है, तब जो उनमें भी सूक्ष्म वस्तु के भीतर व्यापक और अति सूक्ष्मतम सत्ता है, वह मुझे प्रिय है।)

क्रमशः इस सूक्ष्म सत्ता पर बुद्धि का अत्यधिक अधिकार होने के कारण प्रेम भाव के लिए वहां स्थान नहीं रहा—

> वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
> सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत्॥
>
> अथर्व० १० ८ ३८

(मैं उस व्यापक सूत्र को जानता हूं जिसमें यह प्रजा गुथी हुई है। मैं सूत्र के भी सूत्र को जानता हूं जो सब में महत् है।)

परन्तु तत्वद्रष्टा इस परम महत् के सनातन रूप को भी अपनी विविधता में चिर नवीन देखता है।

> सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः।
> अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः॥
>
> अथर्व० १० ८-२३

(वह परम तत्त्व सनातन कहा जाता है। पर वह तो आज भी नया है जैसे दिन रात बराबर नये नये उत्पन्न होते हैं पर रूपों में एक दूसरे के समान होते हैं।)

यही भाव उपनिषदों में मिलता है—

> ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः एतद्वै तत्।
>
> —का० उप०

जब चेतन की व्यापकता और जड़ की विविधता की अनुभूति हमारा हृदय करता है तब वह रूपों ही के माध्यम से अरूप का परिचय देता है। इस क्रम से काव्य और कलाओं की सृष्टि स्वाभाविक है क्योंकि वे सत् या व्यापक सत्य को सौन्दर्य की विभिन्नता में अनुवादित करने का लक्ष्य रखता है। परन्तु जब इसी सत्य को मस्तिष्क अपनी सीमा में घेर लेता है तब वह सूक्ष्म से सूक्ष्म सूत्र के सहारे रूप समष्टि की एकता प्रमाणित करना चाहता है। इस क्रम से हमारे दर्शन का विकास होता है क्योंकि उसका उद्देश्य रूपों की विविधता को परम तत्त्व में एकरस कर देना है।

इस प्रकार हमारी रहस्यभावना चिंतन में सूक्ष्म अरूपता ग्रहण करने

लगी। वह खो नही गयी, क्योंकि उपनिषद् का अर्थ ही रहस्य है। ब्रह्म और जगत् की सापेक्षता, आत्मा और परमात्मा की एकता, आदि ने दर्शन की विविध शैलियो को जन्म दिया है।

कर्मकाण्ड के विस्तार से थके हुए कुछ मनीषियो ने चिन्तनपद्धति के द्वारा ही आत्मा का चरम विकास सम्भव समझा। इनके साथ वह पक्ष भी रहा, जो कुछ योगक्रियाओ और अभ्यासो द्वारा आत्मा को दिव्य शक्ति-सम्पन्न बनाने मे विश्वास रखता था—दूसरे अर्थ मे वह कर्मकाण्ड के रूप मे परिवर्तन चाहता था, उसका अभाव नही। एक कर्म-पद्धति भौतिक सिद्धियो के लिए थी, दूसरी आत्मिक ऋद्धियो के लिए। इसी से अन्त मे साधनात्मक रहस्यवाद, वज्रयानी, शैव, तान्त्रिक आदि सम्प्रदायो मे, ऐसे भौतिक धरातल पर उतर आया कि वह स्थूल सुखवाद का साधन बनाया जाने लगा।

अष्टाचक्र नवद्वारा देवानां पूरयोद्धया।

(अष्ट चक्र नव द्वारोवाली यह इन्द्रियगणो की अजेय पुरी है।)

पुण्डरीक नवद्वार त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।

—अथर्व०

(नव द्वारवाला यह श्वेतकमल है जो सत्त्व, रज, तम तीन गुणो से ढका हुआ है।)

उपर्युक्त पंक्तियो मे शरीर-यन्त्र की जो रहस्यात्मकता वर्णित है, उसने ऐसा विस्तार पाया, जो आत्मा को सबसे ऊपर परमव्योम तक पहुँचाने का साधन भी हुआ और सबसे नीचे पाताल से बाँध रखने का कारण भी।

रहस्य के दर्शन के प्रहरी हमारे चिन्तनशील मनीषी रहे। उपनिषदो और विशेषत. वेदान्तदर्शन ने आत्मा और परमतत्त्व के सम्बन्ध को उत्तरोत्तर परिष्कृत किया है। उपनिषद् हमारे पद्य और गद्य के बीच मे स्थिति रखते है।

सूक्ष्म तत्त्व को प्रकट करने के लिए उनकी सकेतात्मक शैली, अन्तर्जगत् मे उद्भासित सत्य को स्पष्ट करनेवाली रूपकावली, शाश्वत् जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले सरल उपाख्यान आदि विशेषताएँ, उन्हे काव्य की सीमा से बाहर नही जाने देगी और उनका तत्त्वचिन्तन, उनके सिद्धान्त सम्बन्धी सवाद, उनका शुद्ध तर्कवाद आदि गुण उन्हे गद्य की परिधि मे रक्खेगे।

कर्म को प्रधानता देनेवालो के विपरीत तत्त्वचिन्तको ने अन्त करणशुद्धि, ध्यान, मनन आदि को परम सत्ता तक पहुँचानेवाला साधन ठहराया—

धनुर्गृहीत्वौपनिषद महास्त्र
शर ह्युपासानिशित सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्य तदेवाक्षर सौम्य विद्धि॥

[हे सौम्य! उपनिषद् (ज्ञान) महास्त्ररूप धनुष लेकर उस पर उपासना रूप तीक्ष्ण बाण चढा और फिर ब्रह्मभावानुगत चित्त से उसे खीचकर अक्षर लक्ष्य का वध कर।]

रहस्यवाद म जो प्रवृत्तिया मिलती हैं उन सबके मूल रूप हम उपनिषदो की विचारधारा म मिल जाते हैं। रहस्यभावना के लिए द्वैत की स्थिति भी आवश्यक है और अद्वैत का आभास भी क्योकि एक के अभाव म विरह की अनुभूति असम्भव हो जाती है और दूसरे के बिना मिलन की इच्छा आधारखो देती है।

द्वैत के लिए तत्वचिन्तक अपनी साकेतिक शली म कहता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समान वृक्ष परिषस्वजाते।
तयोर य पिप्पल स्वाद्वत्त्य
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
—मु० उप०

(साथ रहने और समान आख्यानवाले दो पक्षी एक ही तरु पर रहते हैं। उनमे एक स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा भोग न करके देखता रहता है।)

आत्मा और परम तत्त्व की एकता भी अनेक रूपो मे व्यक्त की गयी है—

तत्सत्य स आत्मा तत्त्वमसि।
—छा० उप०

(वह सत्य है आत्मा है, वह तू है।)

नेह नानास्ति किंचन।
—क० उप०

(यहाँ नानारूप कुछ नही है।)

अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद।
—बृ० उप०

(वह अन्य है, मै अन्य हूँ, जो यह जानता है वह नही जानता।)

रहस्यवादियो के समान ही अनेक तत्त्वदर्शक भी इच्छा के द्वारा ही आत्मा और परमात्मा की एकता सम्भव समझते हैं—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।
—मु० उप०

[जिस परमात्मा को यह (आत्मा) वरण करता है, उस वरण के द्वारा ही वह परम तत्त्व प्राप्त हो सकता है।]

इस एकता के उपरान्त आत्मा और ब्रह्म मे अन्तर नही रहता। आत्मा अपनी उपाधियाँ छोडकर परम सत्ता मे वैसे ही लीन हो जाता है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्र-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।

(जैसे निरन्तर वहती हुई सरिताएँ नाम रूप त्यागकर समुद्र मे विलीन हो जाती है।)

उसी चेतन तत्त्व से सारा विश्व प्रकाशित है—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

(उसके प्रकाशित होने से सब कुछ प्रकाशित होता है। सारा ससार उसी से आलोकित है।)

उपर्युक्त पंक्तियाँ हमे कबीर के 'लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल' का स्मरण करा देती है।

वह परम सत्ता निकट होकर भी दूरी का भास देती है।

सूक्ष्माच्च सूक्ष्मतर विभाति
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च।
—मु० उप०

(वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर भासमान् होता है और दूर से भी दूर, पर इस शरीर मे अत्यन्त समीप भी है।)

जायसी न पिय हिरद महँ भेट न हाइ म जो कुछ व्यक्त किया है, उस बहुत पहले उपनिषद्‌कार की मनीषा भी कह चुकी थी। वरुण की सरगाह भी उपनिषदों के चिन्तन म विशेष महत्त्व रखता है—

अत समुद्रा गिरयश्च सर्वे
ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।

(इसी से समस्त समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं इसी से अनेक रूपवाली नदियाँ प्रवाहित हैं।)

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गा ।
—मु० उप०

(वही सत्य है। उसी ज्योतिमय से सब ऐसे उत्पन्न हुए हैं जैसे प्रज्वलित अग्नि से उसी के समान रूपवाले सहस्रों स्फुलिंग।)

रहस्यवादियों ने परम तत्त्व और आत्मा के बीच म माधुर्य भाव मूलक सम्बन्ध की स्थापना के लिए उन दोनों म पुरुष और नारी भाव का आरोप किया है। इस कल्पना की स्थिति के लिए जो धरातल आवश्यक था, वह तत्त्वचिन्तक द्वारा निर्मित हुआ है। सांख्य ने जडतत्त्व को त्रिगुणात्मक प्रकृति और विकार शून्य चेतनतत्त्व को पुरुष की संज्ञा दी है अत इन संज्ञाओं ही में इस प्रकार का अन्तर उत्पन्न हो गया जो पुरुष और नारीरूप की कल्पना सहज कर दे। जडतत्त्व से उत्पन्न प्राणि जगत् भी प्रजा और सृष्टि कहलाता रहा।

आत्मा अपने सीमित रूप म जड म बधा है अत प्रकृति की उपाधियाँ उसे मिल जाने के कारण वह भी परम पुरुष के निकट प्रकृति का परिचय लेकर उपस्थित होने लगा।

आत्मा को चिति के रूप म ग्रहण करनेवाले मनीषी भी उसके स्वभाव का आभास देने के लिए नारी संज्ञाओं का प्रयोग करने लगे।

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे।
—अथर्व०

(यह कल्याणी, कभी जीर्ण न होने वाली और मरणशील शरीर म अमृता नित्य है।)

ऋग्वेद के मनीषी भी कही कही अपनी बुद्धि या मति के लिए वरणीय वधू का प्रयोग करते रहे है।

इस सम्बन्ध मे जो आत्मसमर्पण का भाव है उसके भी कारण है। जो सीमित है, वही असीम मे अपनी मुक्ति चाहता है, पर इस मुक्ति को पाने के लिए उसे अपनी सीमा का समर्पण करना ही होगा। नदी समुद्र मे मिलकर अथाह हो जाती है, परन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति तव तक सम्भव नही, जव तक वह अपनी नाम-रूप आदि सीमाएँ समुद्र को समर्पित न कर दे।

समर्पण के भाव ने भी आत्मा को नारी की स्थिति दे डाली। सामाजिक व्यवस्था के कारण नारी अपना कुल, गोत्र आदि परिचय छोडकर पति का स्वीकार करती है और स्वभाव के कारण उसके निकट अपने आपको पूर्णत समर्पित कर उस पर अधिकार पाती है। अत नारी के रूपक से सीमावद्ध आत्मा का असीम मे लय होकर असीम हो जाना सहज ही समझा जा सकता है।

आत्मा और परमात्मा के इस माधुर्यभावमूलक सम्वन्ध ने सगुणोपासना पर भी विशेष प्रभाव डाला है। सगुण-भक्त द्वैत को लेकर चलता है। एक सीमा दूसरी सीमा मे अपनी अभिव्यक्ति चाहती है। एक अपूर्ण व्यक्तित्व दूसरे पूर्ण व्यक्तित्व के स्पर्श का इच्छुक है। भक्त विवश सीमावद्ध है और इष्ट परम तत्त्व की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए स्वेच्छा से सीमावद्ध है, पर है तो दोनो सीमावद्ध ही। ऐसी स्थिति मे उनके वीच मे सभी मानवीय सम्वन्ध सम्भव है। पर माधुर्यभावमूलक सम्वन्ध तो लौकिक प्रेम के वहुत समीप आ जाता है, क्योकि लौकिक प्रेम के परिष्कृततम रूप मे, प्रेमपात्र भी परम तत्त्व की अभिव्यक्तियो मे पूर्ण अभिव्यक्ति वन जाने की क्षमता रखता है।

दक्षिण की अन्दाल, उत्तर की मीरा, वगाल के चैतन्य आदि मे हमे कृष्ण पर आश्रित माधुर्यभाव के उज्ज्वल रूप मिलते है। परन्तु स्थूल धरातल पर उतरकर माधुर्यभावमूलक उपासना हमे देवदासियो के विवश करुण जीवन और सम्प्रदायो मे प्रचलित सुखवाद के ऐसे चित्र भी दे सकी, जो भक्ति की स्वच्छता मे मलिन धव्वे जैसे लगते है।

भारतीय रहस्यभावना मूलत वुद्धि और हृदय की सन्धि मे स्थिति रखती है। एक से यह सूक्ष्म तत्त्व की व्यापकता नापती है और दूसरे से व्यक्त जगत् की गहराई की थाह लेती है। यह समन्वय उसके भावावेग को वुद्धि की सीमा नही तोडने देता और वुद्धि को भाव की असीमता रोकने के लिए तट नही वॉधने देता। रहस्यानुभूति भावावेश की ऑधी नही, वरन् ज्ञान के अनन्त आकाश के नीचे अजस्रप्रवाहमयी त्रिवेणी है, इसी से हमारे तत्त्वदर्शक वौद्धिक

तथ्य को हृदय का सत्य बना सके। बुद्धि जब अपनी हार के क्षणों में यह स्वर में कहती है—अविज्ञातं विजानताम् (जाननेवालों का वह ब्रह्म अज्ञात है), तब हृदय उसकी हार को जय बनाता हुआ विश्वास भरे कण्ठ से उत्तर देता है—तत्त्वमसि (तुम स्वयं वही हो।)

बौद्ध और जैन मतों पर भी उपनिषदों की रहस्यभावना का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा।

शान्त का अहंकार मन और विज्ञान में शून्य आत्मन् उस आत्मा से भिन्न है जो इसकी समष्टि है। परम विकास के उपरान्त आत्मन् का शून्य व्यापकता बौद्ध मत के उस निर्वाण के निकट पहुँच जाता है जो विकास-क्रम के अन्त में बोधिसत्त्व (विकास-क्रम में बँधे जीव) को उस शून्य स्थिति में मुक्ति देता है। सर्वभूतहित और मा हिंस्यात की भावना बुद्ध मत की महामैत्री और महाकरुणा में इतना विस्तार पा गयी कि वह चरम विकास तक पहुँचानेवाला साधन ही नहीं उसका लक्षण भी बन गयी। अन्य मतों में करुणा परमतत्त्व से तादात्म्य का माध्यम मात्र है, पर बुद्ध की विचारधारा में वह परमतत्त्व का स्थान ही ले लेती है। करुणा किसी परमतत्त्व से तादात्म्य के लिए स्थिति नहीं रखती वरन् वह बोधिसत्त्व की स्थिति के अभाव का साधन और उसके चरम विकास का परिचय है। सबके प्रति महामैत्री और महाकरुणा से युक्त होकर ही बोधिसत्त्व बुद्ध होता और निर्वाण तक पहुँचता है। इस प्रकार अभाव तक पहुँचानेवाला यह भावजगत् परमतत्त्व की व्यापकता में अपने आपको खो देनेवाले रहस्यवादी के विश्वव्यापी प्रेमभाव से विचित्र साम्य रखता है।

बौद्ध धर्म अज्ञान और तृष्णा को दुख का कारण मानता है जो उपनिषदों में मिलनेवाली अविद्या और काम के रूपान्तर हैं। अन्तःकरण की शुद्धि को प्रधानता देनेवाले मनीषियों के समान बुद्ध ने भी कर्मकाण्ड को महत्त्व नहीं दिया पर बुद्धमत की साधना क्रम योग के साधना क्रम से भिन्न नहीं रहा। ज्ञान के व्यापक रूप को खोकर बौद्ध धर्म में भी एक ऐसा सम्प्रदाय उत्पन्न हो गया, जो साधना प्राप्त सिद्धियों का प्रयोग भौतिक सुख भोग के लिए करने लगा।

जैन मत ने आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना को चरम सीमा तक पहुँचा दिया और ब्रह्म की एकता को नया रूप दिया। जीवन के चरम विकास के उपरान्त वे शून्य या स्थिति के अभाव को न मानकर उसके व्यापक भाव को मानते हैं। जगत में सब जीवों में ईश्वरता है और पूर्ण विकास के उपरान्त

जीव किसी परम-तत्त्व से तादात्म्य न करके स्वय असीम और व्यापक स्थिति पा लेता है ।

जैन धर्म का साधना-क्रम अन्त करण की शुद्धि के साथ शारीरिक तप को विशेष महत्त्व देता है ।

नाम रूप मे सीमित किसी व्यक्तिगत परमात्मा को न मानकर अपनी शून्य और असीम व्यापकता मे विश्वास करनेवाले इन मतो और अपने आपको किसी निर्गुण तथा निराकार व्यापकता का अश माननेवाले और उसमे अपनी लय को, चरम विकास समझनेवाले रहस्यवादियो मे जो समानता है, उसे साम्प्रदायिक विद्वेषो ने छिपा डाला। एक पक्ष, नास्तिक धर्म की परिधि मे घिरा है, दूसरा, धर्महीन दर्शन की परिभाषा मे बँधा है, पर इन सबके मूलगत तत्त्व एक ही चिन्तन-परम्परा का पता देते है । जीवन के कल्याण के प्रति सतत जागरूकता, सब जीवो के प्रति स्नेह, करुणा और मैत्री का भाव, पारलौकिक सुख-दु ख के प्रतीक स्वर्ग-नरक मे अनास्था, साधना का अन्तर्मुखी क्रम आदि, भारतीय तत्त्वचिन्तन की अपनी विशेषताएँ है ।

हमारे तत्त्वचिन्तको की बुद्धि सूक्ष्म से सूक्ष्तम महाशून्य को सब ओर से स्पर्श कर कल्याण का ऐसा बादल घेर लाती है, जो जीवन की स्थूल धरती पर बरस कर ही सार्थकता पाता है । हमारे यहाँ नास्तिकता बुद्धि की वह निर्ममता है, जो कल्याण की खोज मे किसी भी बाधा को नही ठहरने देना चाहती, अत वह जीवन सम्बन्धी आस्था से इस तरह भरी रहती है कि उसे शून्य मानना कठिन है ।

पश्चिम मे प्लोटो और प्लोटिनस ने जिस रहस्यभावना को जन्म और विकास दिया, वह ब्रह्म और जीव की एकता पर आश्रित न होकर ब्रह्म और जगत् के बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव मे स्थिति रखती है । दूसरे शब्दो मे जगत् का तत्त्वरूप ब्रह्म है और ब्रह्म का छाया रूप जगत् । ऐसी स्थिति मे आत्मा-परमात्मा की अद्वैत स्थिति का चरम विकास सहज न हो सका। इस प्रवृत्ति से जो कल्पना-प्रधान रहस्यभाव उत्पन्न हुआ, उसका प्रभाव दर्शन से लेकर रोमाण्टिक काव्य तक मिलता है । इस्लाम और ईसाई मतो पर भी इसकी छाया हे, पर उन पर भारतीय रहस्यचिन्तन का भी कम प्रभाव नही ।

ईसाई मत का रहस्यवाद एक विशेप स्थिति रखता है । वह धर्म की परिधि मे उत्पन्न हुआ और वही रहा, अत स्वय एक सम्प्रदाय के भीतर सम्प्रदाय बन गया । धर्म और रहस्यभावना मे विरोध न होने पर भी वे एक नही हो सकते ।

धर्म बाह्य जीवन में सामंजस्य लाने के लिए विधिनिषेधात्मक सिद्धान्त भी देता है और सबके कारणभूत तत्त्व को एक निश्चित व्यक्तित्व देकर हमारे विश्वास में प्रतिष्ठित भी करता है। रहस्य का अथ वहाँ से होता है जहाँ धर्म की इति है। रहस्य का उपासक हृदय में सामंजस्यमूलक परमतत्त्व की अनुभूति प्राप्त करता है और वह अनुभूति परदे के भीतर रखे हुए दीपक के समान अपने अशान्त आभास से उसके व्यवहार को स्निग्धता देती है। रहस्यवादी के लिए नरक स्वर्ग मृत्यु अमरता परलोक पुनर्जन्म आदि का कोई महत्त्व नहीं। उसकी स्थिति में केवल इतना ही परिवर्तन सम्भव है कि वह अपनी सीमा को अपने असीम तत्त्व में खो सके।

पश्चिमीय रहस्यवाद के प्रवेशद्वार पर हम प्लाटिनस (Plotinus) के उपरान्त डायोनिसियस (Dionysius) का रहस्यमय व्यक्तित्व पाते हैं जिसने मध्ययुग के समस्त रहस्यचिन्तन को प्रभावित किया है। यह रहस्यवादी होने के साथ-साथ ईसाई धर्म का विश्वासी अनुयायी भी था अतः इसकी चिन्तन पद्धति दोनों को समान महत्त्व देती चलती है।

ईसाई मत की पहली धार्मिक कट्टरता ने मनुष्य में किसी ऐसे नित्य और अक्षर तत्त्व को नहीं स्वीकार किया था जो परमात्मा से एक हो सके। डायोनिसियस भारतीय ऋषियों के समान ही मनुष्य को शरीर, जीवात्मा और आत्मा के साथ देखता है। यह आत्मा ऐसी नित्य और अक्षर है जैसा परमात्मा और दोनों का तादात्म्य सम्भव है। परमात्मा को आत्मा से एक कर देने का साधन प्रेम है। डायोनिसियस कहता है—'It is the nature of love to change a man into which he loves (प्रेम का यह स्वभाव है कि वह मनुष्य को उसी वस्तु में बदल देता है जिससे वह स्नेह करता है।)

परमात्मा के सम्बन्ध में उसका मत है— If any one sees God and understands what he sees he has not seen God at all (यदि कोई परमात्मा को देखता है और उसे अपने दृष्टि विषय का ज्ञान है तब उसने उसे देखा ही नहीं।) हमारे तत्त्वदर्शी भी स्वीकार करते हैं— यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः (जिसको ज्ञान नहीं उसको ज्ञान है जिसको ज्ञान है वह उसे नहीं जानता।)

स्वर्ग नरक के सम्बन्ध में उसके जो विचार हैं वे भी रहस्यवादियों का विचारस्वातन्त्र्य प्रकट करते हैं— To be separated from God is hell and the sight of God's Countenance is heaven' (परमात्मा से दूरी नरक और उसका दर्शन स्वर्ग है।)

एकहार्ट (Eckhart) भी आत्मा-परमात्मा की एकता और इस आत्मा मे, तादात्म्य सहज करनेवाली शक्ति की स्थिति मानता है—

'There is no distinction left in soul's consciousness between itself and God' (आत्मा की जागृति मे परमात्मा और आत्मा मे अन्तर नही रहता।)

माधुर्यभाव पर आश्रित और धर्म-विशेष मे सीमित इस रहस्यवाद ने एक ऐसी उपासना-पद्धति को जन्म दिया, जिसमे उपासक, वधू के रूप मे आत्मसमर्पण द्वारा प्रभु से तादात्म्य प्राप्त करने लगे। इस आध्यात्मिक विवाह के इच्छुक उपासक और उपासिकाओ के लिए जो साधनाक्रम निश्चित था, उसका अभ्यास मठो के एकान्त मे ही सम्भव था। यह रहस्योपासना हमारी माधुर्य-भावमूलक सगुणोपासना के निकट है। महात्मा ईसा की स्थिति हमारे अवतारवाद से भिन्न नही और उनकी साकारता के कारण यह रहस्योपासक भक्त ही कहे जायँगे। आराध्य जब नाम-रूप से बँधकर एक निश्चित स्थिति पा गया, तब रहस्य का प्रश्न ही नही रहा।

पश्चिम के काव्य मे मिलनेवाली रहस्यभावना उस प्रकृतिवाद से सम्बन्ध रखती है, जिसमे प्रकृति का प्रत्येक अग सजीव और स्वतन्त्र स्थिति रखता है। प्रकृति के हर रूप मे सजीवता देख लेना ही रहस्यानुभूति नही है, क्योकि रहस्य मे प्रकृति की खण्डश सजीवता एक व्यापक परम तत्त्व की अखण्ड सजीवता पर आश्रित रहती है, जो आत्मा का प्रेय है। सजीव जन्तुओ का समूह शरीर नही कहा जायगा, पर जब अनेक अग एक की सजीवता मे सजीव हो तब वह शरीर है। रहस्यवादी के लिए विश्व ऐसी ही एक सजीव स्थिति मे रहता है। ब्लेक, वर्डस्वर्थ जैसे कवि एक ओर प्रकृतिवादी है और दूसरी ओर जगत् और ब्रह्म के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से प्रभावित कल्पनाशील रहस्यवादी। इस रहस्यभावना मे परम तत्त्व से आत्मा की एकता का चरम विकास भी सहज नही और परम तत्त्व के प्रति आत्मा के तीव्र प्रेमभाव की स्थिति भी कठिन है।

सूफियो का रहस्यवाद इससे कुछ भिन्न और भारतीय रहस्यचिन्तन के अधिक निकट है।

इस्लाम के एकेश्वरवाद मे भाव की क्रीडा के लिए स्थान नही। प्रकृति भी इतनी विविधरूपी और समृद्ध नही कि मनुष्य के भावजगत् का व्यापक आधार बन सके। अत. हृदय का भावावेग सहस्र-सहस्र धाराओ मे फैलकर मानवीय सम्बन्धो को बहुत तीव्रता से घेरता रहा। काव्य मे मिलन-विरह सम्बन्धी कल्पना, अनुभूति आदि का जैसा विस्तार मिलता है, उससे भी यही निष्कर्ष निकलेगा।

भारतीय चिन्तनपद्धति के समान वहाँ तत्त्वचिन्तन का क्षत्र इतना विस्तृत नहीं हुआ था, जिसमे मनुष्य अपनी बुद्धिवृत्ति को स्वच्छन्द छोड़ सके। ससार और उसमे व्याप्त सत्ता के सम्बन्ध म काई जिज्ञासा या रहस्य की अनुभूति होन पर उसकी अभिव्यक्ति क माग म अनेक कठिनाइयाँ आ उपस्थित होती थी। धम की सीमा के भीतर विश्वास का कठोर शासन होने के कारण एसी अनुभूतियाँ वहाँ प्रवेश नहीं पा सकती थी और लौकिक प्रेम की सकाण परिधि म स्थूल की प्रधानता के कारण उनकी स्थिति सम्भव नहीं रहती थी।

हमारे कमकाण्ड की एकरसता के विरोध म जस भावात्मक ज्ञानवाद का विकास हुआ धमगत शुष्कता की प्रतिक्रिया म वस ही सूफियों के रागात्मक हृदयवाद का जन्म हुआ। भारतीय वदान्त न उन्हें बहुत प्रभावित किया क्योंकि वह बुद्धि और हृदय दोनों के लिए एसा क्षितिज खोल देता है जिसम व्यापकता भी विविध रगमयी है।

यहाँ के तत्त्वचिन्तकों के समान सूफी भी हक बन्दा और शतान क रूप म परमात्मा, आत्मा और अविद्या की स्थिति स्वीकार करत हैं।

तद्भावगतेन चतसा के द्वारा मनीषियों ने जो सकेत किया है उसको सूफियों म अधिक भावात्मक रूप मिल गया। इस प्रमतत्त्व के द्वारा सूफी परम आराध्य स एक हो सकता है। 'स यो ह व तत्पर ब्रह्मवद ब्रह्मव भवति (जो निश्चयपूवक उस ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है) की प्रतिध्वनि हम सूफी अत्तार के शब्दों मे मिलती है—प्रेम म मैं और तू नहीं रहते। अह प्रम क आधार म लय हो जाता है।

इसी प्रकार शमसतबरी का कथन है—मैं और तू म कोई अन्तर नहीं। एकता म किसी प्रकार का अन्तर होता ही नहीं है। जिसके हृदय से द्वत निकल गया उसकी आत्मा से अहम ब्रह्मास्मि की ध्वनि गूजने लगती है। परम तत्त्व से छूटे हुए मनीषियों के समान ही रूमी वियोग के सम्बन्ध मे कहता है जो पुरुष अपन मूल तत्त्व से छूट गया है उसको उसस पुनर्मिलन की चिन्ता रहती है।'

य एषोऽन्तहृ दय आकाशस्तस्मिञ्छत (यह जो हृदय के भीतर का आकाश ह वह (ब्रह्म) उसी म सोता है) का तत्त्वत ग्रहण कर लेने पर बाहर के उपासना विधान की आवश्यकता नहीं रही। पर अन्त शुद्धि के लिए दूसरी अन्तमुखी साधना-पद्धति का विकास होना अनिवाय हो गया। योग के साधनात्मक रहस्यवाद ने सूफियों की साधना पद्धति को विशेष रूप रखा दी है। तुरीयावस्था तक पहुचन क पहल आत्मा की अवस्थाए समाधि तक पहुँचने के पूव साधना का आरोह क्रम आदि का जसा रहस्यात्मक विस्तार योग म हुआ है, उसी का

सूफियो ने स्वीकृति दी है। पर उनका व्यष्टिगत प्रेय हमारे तत्त्वदर्शन के समष्टिगत श्रेय का रूप नही पा सका।

सूफ (सफेद ऊन) का वस्त्र पहननेवाले इन फकीर रहस्यद्रष्टाओ की स्थिति हमारे मनीषियो से भिन्न रही। इन्हे वहुत विरोध का सामना करना पडा, जो इस्लाम धर्म का रूप देखते हुए स्वाभाविक भी था।

वहाँ 'अनलहक' कहनेवाला धर्म का विरोधी वनकर उपस्थित होता है, पर यहाँ 'अह ब्रह्मास्मि' पुकारनेवाला तत्त्वदर्शी की पदवी पाता है, क्योकि हमारे यहाँ ब्रह्मरूप श्रेय वन जाना ही आत्मरूप प्रेय का चरम विकास है।

इसके अतिरिक्त भारतीय रहस्यप्रवृत्ति लोक के निकट अपना इतना रहस्य खोल चुकी थी कि उसका द्रष्टा असामाजिक प्राणी न माना जाकर सवका परम आत्मीय माना गया। सूफी सन्तो की परिस्थितियो ने उन्हे लोक से दूर स्थिति देकर उनके प्रेम को अधिक ऐकान्तिक विकास पाने दिया, इसी से हमारे तत्त्वचिन्तक वाहर के विरोधो की चर्चा नही करते, पर सूफियो की रचनाओ मे लोककठोरता का व्योरा भी मिलता है।

परन्तु इन्ही कारणो ने सूफियो के काव्य को अधिक मर्मस्पर्शिता भी दे डाली। तत्त्वचिन्तन की विकसित प्रणाली न होने के कारण उन्होने परम तत्त्व की व्यापकता की अनुभूति और उसमे तादात्म्य की इच्छा को विशुद्ध भावभूमि पर ही स्थापित किया, अत उनके विरह-मिलन की साकेतिक अभिव्यक्तियाँ अपनी अलौकिकता मे भी लौकिक है।

हिन्दी काव्य मे रहस्यवाद वहाँ से आरम्भ होता है, जहाँ दोनो ओर के तत्त्वदर्शी एक असीम आकाश के नीचे ही नही, एक सीमित धरती पर भी साथ खडे हो सके। अत दोनो ओर की विशेपताएँ मिलकर गगा-यमुना के सगम से वनी त्रिवेणी के समान एक तीसरी काव्यधारा को जन्म देती है। इस काव्य-धारा के पीछे ज्ञान के हिमालय की शत-शत तुपार-धवल उन्नत चोटियाँ है और आगे भाव की हरीभरी पुष्पदुकूलिनी असीम धरती। इसी से इसे निरन्तर गतिमय नवीनता मिलती रह सकी।

भारतीय रहस्यचिन्तन मे एक विशेषता और है। उसके समर्थक हर वार क्रान्ति के स्वर मे वोलते रहे है। रूढिग्रस्त धर्म, एकरस कर्मकाण्ड और वद्धमूल अन्धविश्वास के प्रति वे कितने निर्मम है, जीवन के कल्याण के प्रति कितने कोमल हैं और विचारो मे कितने मौलिक है, इसे उपनिपद् काल की विचार-धाराएँ प्रमाणित कर सकेगी। जीवन से उनका कोई ऐसा समझौता सम्भव ही नही, जो सत्य पर आश्रित न हो।

धम की दुलघ्य प्राचीरें और कमकाण्ड की दुगम सीमाए पार कर मुक्त आकाश म गूजनेवाला रहस्यद्रष्टा का स्वर हम चौंका देता है—

यस्मिन सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत ।
तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ॥
ईशावास्य उप०

(जो मनुष्य आत्मा का स्वभाव जानता है, जो सब भूतो म उसकी व्याप्ति का ज्ञान रखता है उस एकत्व क द्रष्टा क लिए भ्रांति कैसी खिन्नता क्या !)

बुद्धि के ऐसे सूक्ष्म स्तर पर भी तत्त्वदशक जीवन की यथाथता नही भूलता अत इसी उपनिषद् म कुवन्नेवेहि कर्माणि जिजीविष आदि म हम पाते है—'यहाँ कम करता हुआ जीने की इच्छा कर। ह मनुष्यत्व का अभिमान रखनेवाले ! तेरे लिए अन्य माग नही है नही है।

रूढियाँ यदि अचल हैं तो रहस्यदर्शकों के स्वर म शत शत निर्झरो का प्रखर वेग है जीवन यदि विषम है तो उनकी दृष्टि म अनन्त आकाश का सामजस्य है और धम यदि सकीण है तो उनके आत्मवाद म समीर का व्यापक स्पश है।

इसी स प्रसिद्ध पश्चिमीय दार्शनिक शापनहार (schopenhauer) कहता है—

'In the world there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upanishads They are a product of the highest wisdom It is destined sooner or later to become the faith of the people '

(ससार म उपनिषदो के समान उपयोगी और उदात्त बनानेवाला अन्य स्वाध्याय नही। वे उत्कृष्ट ज्ञान के परिणाम हैं। आगे या पीछे यही जनता का धम होगा, यह निश्चित है।)

हिन्दी के रहस्यवाद के अथ के साथ हम कबीर म ऐसे क्रान्तिदूत के दशन होते हैं, जिसने जीवन के निम्नतम स्तर को ऊँचाई बना लिया अपनी अशिक्षा को आलोक म बदल दिया और अपने स्वर से वातावरण की जडता को शत शत स्पन्दनो से भर दिया।

कबीर तथा अन्य रहस्यदर्शी सन्तो और सगुण भक्तो म विशेष अन्तर है। *सगुण उपासक यदि प्रशान्त स्निग्ध आभा फैलानेवाला नक्षत्र है, तो रहस्यद्रष्टा* अपने पीछे आलोक पुज की प्रज्वलित लीक खीचने वाला उल्का पिण्ड। एक

की गति मे निश्चल स्थिति से हमारा चिर-परिचय है, अतः हम इच्छानुसार आँखे ऊपर उठाकर उसे देख भी सकते है और अनदेखा भी कर सकते हैं। परन्तु दूसरा हमारे दृष्टिपथ मे ऐसे आकस्मिक वेग के साथ आता है कि उसकी ज्योतिर्मय स्थिति, पृथ्वी की आकर्पणशक्ति के समान ही हमारी दृष्टि को बलात् खीच लेती है। उसके विद्युत्-वेग को देखने का प्रश्न हमारी रुचि और सुविधा की अपेक्षा नही करता। सगुण गायक हमारे साथ-साथ जीवन की रागिनी सुनाता और पथ बताता हुआ चलता है। पर रहस्य का अन्वेपक कही दूर अन्धकार मे खड़ा होकर पुकारता है—चले आओ, थकना हार है, रुकना मृत्यु है।

युगो के उपरान्त छायावाद के प्रतिनिधि कवियो ने भी इस विचारधारा का विद्युत्स्पर्श अनुभव किया और यह न कहना अन्याय होगा कि उन्होने उस परम्परा को अक्षुण्ण रखा। अनेक क्रूर विरोध और विवेकशून्य आघातो के उपरान्त भी उनमे कोई दीनता नही, जीवन से उनका कोई सस्ता समझौता नही और कल्याण के लिए उनके निकट कोई अदेय मूल्य नही।

सम्भवत पारस को छूकर सोना न होना लोहे के हाथ मे नही रहता—भारतीय तत्त्वदर्शन ऐसा ही पारस रहा है।

धम की दुलघ्य प्राचीरें और कमकाण्ड की दुगम सीमाए पार कर मुक्त आकाश म गूजनेवाला रहस्यद्रष्टा का स्वर हम चौंका देता है—

यस्मिन सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत ।
तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ॥
ईशावास्य उप०

(जो मनुष्य आत्मा का स्वभाव जानता है जो सब भूतो म उसकी व्याप्ति का ज्ञान रखता है, उस एकत्व के द्रष्टा के लिए भ्रान्ति कैसी खिन्नता क्यो ?)

बुद्धि के एस सूक्ष्म स्तर पर भी तत्त्वज्ञ जीवन की यथार्थता नही भूलता अत इसी उपनिषद् म कुर्वन्नेवेहि कर्माणि जिजीविष आदि म हम पाते ह—'यहा कम करता हुआ जीने की इच्छा कर। हे मनुष्यत्व का अभिमान रखनेवाले ! तेरे लिए अन्य माग नहा है नही है।

रूढियाँ यदि अचल हैं तो रहस्यदर्शको के स्वर मे शत शत निर्झरो का प्रखर वेग है जीवन यदि विषम है तो उनकी दृष्टि म अनन्त आकाश का सामजस्य है और धम यदि सकीर्ण है, तो उनके आत्मवाद म समीर का व्यापक स्पश है।

इसी स प्रसिद्ध पश्चिमीय दार्शनिक शोपेनहार (schopenhauer) कहता है—

'In the world there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upanishads They are a product of the highest wisdom It is destined sooner or later to become the faith of the people '

(ससार म उपनिषदो के समान उपयोगी और उदात्त बनानेवाला अन्य स्वाध्याय नही। वे उत्कृष्ट ज्ञान के परिणाम हैं। आगे या पीछे यही जनता का धम होगा, यह निश्चित है।)

हिन्दी के रहस्यवाद के अथ के साथ हम कबीर म ऐसे क्रान्ति-दूत के दशन होते है, जिसने जीवन के निम्नतम स्तर को ऊँचाई बना लिया अपनी अशिक्षा को आलोक म बदल दिया और अपने स्वर से वातावरण की जडता को शत शत स्पन्दनो से भर दिया।

कबीर तथा अन्य रहस्यदर्शी सन्तो और सगुण भक्तो मे विशेष अन्तर है। सगुण उपासक यदि प्रशान्त स्निग्ध आभा फैलानेवाला नक्षत्र है, तो रहस्यद्रष्टा अपने पीछे आलोक-पुज की प्रज्वलित लीक खीचने वाला उल्का पिण्ड। एक

की गति मे निश्चल स्थिति से हमारा चिर-परिचय है, अतः हम इच्छानुसार आँखें ऊपर उठाकर उसे देख भी सकते हैं और अनदेखा भी कर सकते हैं। परन्तु दूसरा हमारे दृष्टिपथ मे ऐसे आकस्मिक वेग के साथ आता है कि उसकी ज्योतिर्मय स्थिति, पृथ्वी की आकर्षणशक्ति के समान ही हमारी दृष्टि को बलात् खींच लेती है। उसके विद्युत्-वेग को देखने का प्रश्न हमारी रुचि और सुविधा की अपेक्षा नही करता। सगुण गायक हमारे साथ-साथ जीवन की रागिनी सुनाता और पथ बताता हुआ चलता है। पर रहस्य का अन्वेषक कही दूर अन्धकार मे खड़ा होकर पुकारता है—चले आओ, थकना हार है, रुकना मृत्यु है।

युगो के उपरान्त छायावाद के प्रतिनिधि कवियो ने भी इस विचारधारा का विद्युत्स्पर्श अनुभव किया और यह न कहना अन्याय होगा कि उन्होंने उस परम्परा को अक्षुण्ण रखा। अनेक क्रूर विरोध और विवेकशून्य आघातो के उपरान्त भी उनमे कोई दीनता नही, जीवन से उनका कोई सस्ता समझौता नही और कल्याण के लिए उनके निकट कोई अदेय मूल्य नही।

सम्भवतः पारस को छूकर सोना न होना लोहे के हाथ मे नही रहता—भारतीय तत्त्वदर्शन ऐसा ही पारस रहा है।

धर्म की दुर्लघ्य प्राचीरें और कर्मकाण्ड की दुर्गम सीमाएँ पार कर मुक्त आकाश में गूंजनेवाला रहस्यद्रष्टा का स्वर हम चौंका देता है—

> यस्मिन सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत ।
> तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ॥
>
> ईशावास्य उप०

(जो मनुष्य आत्मा का स्वभाव जानता है, जो सब भूतों में उसकी व्याप्ति का ज्ञान रखता है उस एकत्व के द्रष्टा के लिए भ्रान्ति कैसी खिन्नता क्या !)

बुद्धि के ऐसे सूक्ष्म स्तर पर भी तत्त्वदर्शक जीवन की यथार्थता नहीं भूलता, अत इसी उपनिषद् में 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषे' आदि में हम पाते हैं—'यहाँ कर्म करता हुआ जीने की इच्छा कर। हे मनुष्यत्व का अभिमान रखनेवाले ! तेरे लिए अन्य मार्ग नहीं है नहीं है।

रूढ़ियाँ यदि अचल हैं तो रहस्यदर्शकों के स्वर में शत शत निर्झरों का प्रखर वेग है जीवन यदि विषम है तो उनकी दृष्टि में अनन्त आकाश का सामञ्जस्य है और धर्म यदि संकीर्ण है, तो उनके आत्मवाद में समीर का व्यापक स्पर्श है।

इसी से प्रसिद्ध पश्चिमीय दार्शनिक शापेनहार (schopenhauer) कहता है—

'In the world there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upanishads They are a product of the highest wisdom It is destined sooner or later to become the faith of the people "

(संसार में उपनिषदों के समान उपयोगी और उदात्त बनानेवाला अन्य स्वाध्याय नहीं। वे उत्कृष्ट ज्ञान के परिणाम हैं। आगे या पीछे यही जनता का धर्म होगा, यह निश्चित है।)

हिन्दी के रहस्यवाद के अथ के साथ हम कबीर में ऐसे क्रान्ति-दूत के दर्शन होते हैं, जिसने जीवन के निम्नतम स्तर को ऊँचाई बना लिया, अपनी अशिक्षा को आलोक में बदल दिया और अपने स्वर से वातावरण की जड़ता को शत-शत स्पन्दनों से भर दिया।

कबीर तथा अन्य रहस्यदर्शी सन्तों और सगुण भक्तों में विशेष अन्तर है। सगुण उपासक यदि प्रशान्त स्निग्ध आभा फैलानेवाला नक्षत्र है, तो रहस्यद्रष्टा, अपने पीछे आलोक-पुंज की प्रज्ज्वलित लीक खींचने वाला उल्का पिण्ड। एक

की गति मे निश्चल स्थिति से हमारा चिर-परिचय है, अतः हम इच्छानुसार आँखें ऊपर उठाकर उसे देख भी सकते हैं और अनदेखा भी कर सकते हैं। परन्तु दूसरा हमारे दृष्टिपथ मे ऐसे आकस्मिक वेग के साथ आता है कि उसकी ज्योतिर्मय स्थिति, पृथ्वी की आकर्पणशक्ति के समान ही हमारी दृष्टि को वलात् खीच लेती है। उसके विद्युत्-वेग को देखने का प्रश्न हमारी रुचि और सुविधा की अपेक्षा नही करता। सगुण गायक हमारे साथ-साथ जीवन की रागिनी सुनाता और पथ वताता हुआ चलता है। पर। रहस्य का अन्वेपक कही दूर अन्धकार मे खडा होकर पुकारता है—चले आओ, थकना हार है, रुकना मृत्यु है।

युगो के उपरान्त छायावाद के प्रतिनिधि कवियो ने भी इस विचारधारा का विद्युत्स्पर्श अनुभव किया और यह न कहना अन्याय होगा कि उन्होने उस परम्परा को अक्षुण्ण रक्खा। अनेक क्रूर विरोध और विवेकशून्य आघातो के उपरान्त भी उनमे कोई दीनता नही, जीवन से उनका कोई सस्ता समझौता नही और कल्याण के लिए उनके निकट कोई अदेय मूल्य नही।

सम्भवतः पारस को छूकर सोना न होना लोहे के हाथ मे नही रहता—भारतीय तत्त्वदर्शन ऐसा ही पारस रहा है।

गीति-काव्य

●●

मनुष्य के सुख-दु ख जिस प्रकार चिरन्तन हैं, उनकी अभि यक्ति भी उतनी ही चिर तन रही है परन्तु यह कहना कठिन है कि उन्हें व्यक्त करन के साधनो म प्रथम कौन था।

सम्भव है जिस प्रकार प्रभात की सुनहली रश्मि छूकर चिडिया आन द मे चहचहा उठती है और मघ को घुमडता घिरता देखकर मयूर नाच उठता है उसी प्रकार मनुष्य ने भी पहले पहले अपने भावो का प्रकाशन ध्वनि और गति द्वारा हा किया हो। विशेष कर स्वर-सामजस्य म बँधा हुआ गेय का य मनुष्य हृदय के कितना निकट है, यह उदात्त अनुदात्त स्वरो मे बँधे वैदगीत तथा अपनी मधुरता के कारण प्राणो मे समा जानवाले प्राकृत-पदा के अधिकारी हम भली भाँति समझ सके हैं।

प्राचीन हि दी-साहित्य का भी अधिकाश गेय है। तुलसी का इष्ट के प्रति विनीत आत्म निवेदन गेय है कबीर का बुद्धिग्म्य तत्त्वनिदशन सगीत की मधुरता म बसा हुआ है सूर के कृष्ण-जीवन का बिखरा इतिहास भी गीतमय है और मीरा की व्ययासक्ति पदावली तो सारे गीत जगत् की सम्राज्ञी ही कही जाने योग्य है।

सुख दु ख क भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने चुने श दा म स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। इसम कवि को सयम की परिधि म बँधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है वह सहज प्राप्य नहीं, कारण हम प्राय भाव की अतिशयता म कला की सीमा लाँघ जाते हैं और उसके उपरान्त भाव के सस्कारमात्र मे ममस्पशिता का शिथिल हो जाना

अनिवार्य है। उदाहरणार्थ—दु.खातिरेक की अभिव्यक्ति आर्त्त क्रन्दन या हाहाकार द्वारा भी हो सकती है जिसमे सयम का नितान्त अभाव है, उसकी अभिव्यक्ति नेत्रो के सजल हो जाने मे भी है जिसमे संयम की अधिकता के साथ आवेग के भी अपेक्षाकृत सयत हो जाने की सम्भावना रहती है, उसका प्रकाशन एक दीर्घ नि श्वास मे भी है जिसमे सयम की पूर्णता भावातिरेक को पूर्ण नही रहने देती और उसका प्रकटीकरण नि.स्तब्धता द्वारा भी हो सकता है जो निष्क्रिय वन जाती है।

वास्तव मे गीत के कवि को आर्त्तक्रन्दन के पीछे छिपे हुए भावातिरेक को, दीर्घ नि श्वास मे छिपे हुए सयम से वाँधना होगा, तभी उसका गीत दूसरे के हृदय मे उसी भाव का उद्रेक करने मे सफल हो सकेगा।

गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दु ख ध्वनित कर सके, तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु वन जाती है, इसमे सन्देह नही। मीरा के हृदय मे वैठी हुई नारी और विरहिणी के लिए भावातिरेक सहज प्राप्य था, उसके वाह्य राजरानीपन और आन्तरिक साधना मे सयम के लिए पर्याप्त अवकाश था। इसके अतिरिक्त वेदना भी आत्मानुभूत थी, अत उसका—'हेली मैं तो प्रेम दिवाणी मेरा दरद न जाने कोय', सुनकर यदि हमारे हृदय का तार-तार, उसी ध्वनि को दोहराने लगता है, रोम-रोम उसकी वेदना का स्पर्श कर लेता है तो यह कोई आश्चर्य की वात नही।

सूर का सयम भावो की कोमलता और भाषा की मधुरता के उपयुक्त ही है, परन्तु कथा इतनी पराई है कि हम वहने की इच्छामात्र लेकर उसे सुन सकते हैं, वहते नही और प्रात स्मरणीय गोस्वामी जी के विनय के पद तो आकाश की मन्दाकिनी कहे जा सकते है, हमारी कभी गँदली कभी स्वच्छ वेगवती सरिता नही। मनुष्य की चिरन्तन अपूर्णता का ध्यान कर उनके पूर्ण इष्ट के सम्मुख हमारा मस्तक श्रद्धा से, विनय से नत हो जाता है, परन्तु प्रायः हृदय कातर क्रन्दन नही कर उठता। इसके विपरीत कवीर के रहस्य भरे पद हमारे हृदय को स्पर्श कर सीधे वुद्धि से टकराते हैं। अधिकतर हममे उनके विचार ध्वनित हो उठते है, भाव नही, जो गीत का लक्ष्य है।

व्यक्तिप्रधान भावात्मक काव्य का वही अग अधिक से अधिक अन्तस्तल मे समा जानेवाला, अनेक भूले सुख-दुखो की स्मृतियो मे प्रतिध्वनित हो उठने के उपयुक्त और जीवन के लिए कोमलतम स्पर्श के समान होगा, जिसमे कवि ने गतिमय आत्मानुभूत भावातिरेक को सयत रूप मे व्यक्त कर उसे अमर कर दिया हो या जिसे व्यक्त करते समय वह अपनी साधना द्वारा किसी वीते क्षण

की अनुभूति की पुनरावत्ति करने म सफल हो सका हो। केवल सस्कारमात्र भावात्मक कविता के लिए सफल साधन नही हैं और न किसी बीती अनुभूति की उतनी ही तीव्र मानसिक पुनरावत्ति ही सबके लिए सब अवस्थाओ म सुलभ मानी जा सकती है।

हिन्दी काय का वतमान नवीन युग गीतप्रधान ही कहा जायगा। हमारा यस्त और यक्तिप्रधान जीवन हम काव्य के किसी और अग की ओर दष्टि पात करने का अवकाश ही नही दना चाहता। आज हमारा हृदय ही हमार लिए ससार है। हम अपनी प्रत्येक सांस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं अपने प्रत्येक कम्पन को अकित करन क लिए उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिए विकल हैं। सम्भव है यह उस युग की प्रतिक्रिया हो जिसम कवि का आदश अपने विषय म कुछ न कहकर ससार भर का इतिहास कहना था हृदय की उपेक्षा कर शरीर को आदत करना था।

इस युग के गीतो की एकरूपता म भी एसी विविधता है जो उन्ह बहुत काल तक सुरक्षित रख सकेगी। इनम कुछ गीत मलयसमीर के झोके के समान हम बाहर से स्पश कर अतर तक सिहरा देते हैं कुछ अपने दशन के बोझिल पखो द्वारा हमारे जीवन को सब ओर से छू लेना चाहते हैं कुछ किसी अलक्ष्य डाली पर छिपकर बठी हुई कोकिल के समान हमारे ही किसी भूले स्वप्न की कथा कहते रहते हैं और कुछ मन्दिर के पूत धूप धूम के समान हमारी दष्टि को धुधला परन्तु मन को सुरभित किय बिना नही रहते।

काय की ऊँची ऊची हिमालय-श्रेणियो के बीच म गीतिमुक्तक एक सजल कोमल मेघखण्ड है, जो न उनसे दबकर टूटता है और न बधकर रुकता है प्रत्युत् हर किरण से रगस्नात होकर उन्नत चोटियो का शृगार कर आता है और हर झोके पर उड़ उडकर उस विशालता के कोने कोने म अपना स्पन्दन पहुँचाता है।

साधारणत गीत वयक्तिक अनुभूति पर इतना आश्रित है कि कथा-गीत और नीति पद तक अपनी सवदनीयता के लिए व्यक्ति की भावभूमि की अपेक्षा रखते हैं। अलौकिक आत्मसमपण हो या लौकिक स्नेह निवदन तात्कालिक उल्लास विषाद हो या शाश्वत सुख दुखो का अभियजन प्रकृति का सौदय दशन हो या उस सौदय म चतय का अभिनन्दन सब म गेयता के लिए हृदय अपनी वाणी म ससार-कथा कहता चलता है। ससार के मुख से हृदय की कथा, इतिहास अधिक है गीत कम।

आज हम एस बौद्धिक युग म से जा रहे हैं जो हृदय को मासल यन्त्र और

उसकी कथा को वैज्ञानिक आविष्कारो की पद्धति मात्र समझता है, फलत गीत की स्थिति कठिन से कठिनतर होती जा रही है।

गेयता मे ज्ञान का क्या स्थान है, यह भी प्रश्न है। बुद्धि के तर्क-क्रम से जिस ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है, उसका भार गीत नही सँभाल मकता ; पर तर्क से परे इन्द्रियो की सहायता के विना भी हमारी आत्मा अनायास ही जिस सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेती है, उसकी अभिव्यक्ति मे गेय स्वर-सामजस्य का विशेप महत्त्व रहा है। वेद-गीतो के विश्वचिन्तन से सन्तो के जीवन-दर्शन तक फैली हुई हमारी गीत-परम्परा इस आत्मानुभूत ज्ञान की आभारी है। पर यह आत्मानुभूत ज्ञान आत्मा के सस्कार और व्यक्तिगत साधना पर इतना निर्भर है कि इसकी पूर्ण प्राप्ति और सफल अभिव्यक्ति सवके लिए सहज नही। इसी कारण वेदकालीन मनीपियो का आत्मानुभूत ज्ञान और उसकी सामजस्यपूर्ण अभिव्यक्ति सव युगो मे सम्भव न हो सकी।

रहस्य-गीतो का मूलाधार भी आत्मानुभूत अखण्ड चेतन है, पर वह साधक की मिलन-विरह की मार्मिक अनुभूतियो मे इस प्रकार घुल-मिल सका कि उसकी अलौकिक स्थिति भी लोक-सामान्य हो गयी। भावो के अनन्त वैभव के साथ ज्ञान की अखण्ड व्यापकता की स्थिति वैसी ही है जैसी, कही रगीन, कही सिता-सित, कही सघन, कही हल्के, कही चाँदनीधौत और कही अश्रुस्नात वादलो से छाये आकाश की होती है। व्यक्ति अपनी दृष्टि को उस अनन्त रूपात्मकता के किसी भी खण्ड पर ठहरा कर आकाश पर भी ठहरा लेता है। अत आनन्द और विपाद की मर्मानुभूति के साथ-साथ, उसे एक अव्यक्त और व्यापक चेतन का स्पर्श भी मिलता रहता है। पर ऐसे गीतो मे निर्गुण ज्ञान और सगुण अनुभूति का जैसा सन्तुलन अपेक्षित है, वैसा अन्य गीतो मे आवश्यक नही, क्योकि आधार यदि वहुत प्रत्यक्ष हो उठे, तो वुद्धि उसे अपनी परिधि से वाहर न जाने देगी और भाव यदि अव्यक्त सूक्ष्म हो जावे, जो हृदय उसे अपनी सीमा मे न रख सकेगा। रहस्य-गीतो मे आनन्द की अभिव्यक्ति के सहारे ही हम चित् और सत् तक पहुँचते हैं।

सगुणोन्मुख गीतो मे सत्-चित् की रूप-प्रतिष्ठा के द्वारा ही आनन्द की अभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है, इसी से कवि को वहुत अन्तर्मुख नही होना पडता। वह रूपाधार के परिचय द्वारा हृदय के मर्म तक पहुँचने का सहज मार्ग पा लेता है। सगुण-गायक अनेक रग लेकर एक सीमित चित्रफलक को रगता है, अतः वह उस निर्गुण-गायक से भिन्न रहेगा, जिसके पास रग एक और चित्र-पट शून्य असीम है। एक की निपुणता रगो के अभिनव चटकीलेपन पर निर्भर

है और दूसरे की रेखाओं की चिर नवीन अनन्तता पर। भक्त यदि जीवनदर्शी है तो उसके गीत की सीमित लौकिकता से असीम अलौकिकता वैसे ही बँधा रहेगी, जैसे दीप की लौ से आलोक-मण्डल और यदि रहस्यद्रष्टा तन्मय आत्म निवेदक है, तो उसके गीत की अलौकिक असीमता से, लौकिक सीमाएँ वैसे ही फूटती रहेंगी जैसे अनन्त समुद्र में हिलोरें।

वास्तव में सगुण-गीत में जीवन की विस्तृत कथात्मकता के लिए भी इतना स्थान है कि वह लोक-गीत के निकट आ जाता है। लोक-गीत की सुलभ इति वृत्तात्मकता का इसे कम भय है और उसकी भावों की अतिसाधारणता का खटका भी अधिक नहीं पर उसकी सरल संवेदनीयता की सब सीमाओं तक उसकी पहुँच रहती है। हमारी गीत-परम्परा विविधरूपी है, पर उसका वही रूप पूर्णतम है जो भावभूमि का सच्चा स्पर्श पा सकता है। गीत का चिरन्तन विषय रागात्मिका वृत्ति से सम्बन्ध रखनेवाली सुखदुःखात्मक अनुभूति ही रहेगी। परन्तु अनुभूति मात्र गीत नहीं, क्योंकि गेयता तो अभिव्यक्ति-सापेक्ष है। साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुखदुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।

पिछली दुःखरागिनी का वायुमण्डल और आज की दुःख-कथा का धरातल भी ध्यान देने योग्य है। बाह्य संसार की कठोर सीमाओं और अन्तर्जगत की असीमता की अनुभूति ने उस दुःख को एक अन्तर्मुखी स्थिति दे दी थी। ऐसा दुःख प्रायः जीवन के आन्तरिक सामंजस्य की प्राप्ति का लक्ष्य लेकर चलता है। फलतः उसकी संवेदनीयता में गीत की वैसी ही मर्मस्पर्शिता रहती है, जिसे कालिदास ने—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दा
न्पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।

आदि के द्वारा व्यक्त किया है और वैसी ही व्यापकता मिलती है जिसकी ओर भवभूति ने 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्' कहकर संकेत किया है। ऐसी वेदना को दूसरे के निकट संवेदनीय बनाने के लिए अपने हृदय की अतल गहराई की अनुभूति आवश्यक है और उसे व्यापकता देने के लिए जीवन की एकता की भावना।

आज के दुःख का सम्बन्ध जीवन के स्थूल धरातल की विषमता से रहता है अतः समष्टि को आर्थिक आधार पर बाह्य सामंजस्य देने का आग्रह इसकी विशेषता है। इस धरातल पर यह सहज नहीं कि एक की असुविधा की अनुभूति

दूसरे मे वैसी ही प्रतिध्वनि उत्पन्न कर सके। जिन क्षणो मे भोजन की इच्छा नही, उनमे एक व्यक्ति के लिये अन्य दु.ख, चिन्ता आदि की अनुभूति जैसी सहज है, वैसी भूख की व्यथा की नही। परन्तु उन्ही परिस्थितियो मे यह अनुभूति तव स्वाभाविक हो जायगी, जव वह दूसरे वुभुक्षित से सच्चा तादात्म्य प्राप्त कर सके। आँखो से दूर वाहर गानेवाले की करुण रागिनी हममे प्रतिध्वनित होकर एक अव्यक्त वेदना जगा सकती है, परन्तु प्रत्यक्ष ठिठुरते हुए नग्न भिखारी का दु ख तव तक हमारा न हो सकेगा, जव तक हमारा उससे वास्तविक तादात्म्य न हो जावे। व्यावहारिक जीवन मे भी हमारे भौतिक अभाव उन्ही को अधिक स्पर्श करते है, जो हमारे निकट होते है, जो दूरत्व के कारण ऐसे तादात्म्य की शक्ति नही रखते, उनके निकट हमारी पार्थिव असुविधाओ का विशेप मूल्य नही।

लक्ष्यत एक होने पर भी अन्तर्जगत् के नियम को भौतिक जगत् नही स्वीकार करता। उसमे हमे अपनी गहराई मे दूसरो को खोजना पडता है और इसमे दूसरो की अनेकता मे अपने आपको खो देना। दूसरे की आँखे भर लाने के लिए हमे अपने आँसुओ मे डूव जाने की आवश्यकता रहती है, परन्तु दूसरे के डवडवाये हुए नेत्रो की भापा समझने के लिए हमे अपने सुख की स्थिति को, दूसरे के दु ख मे डुवा देना होगा। जव एक व्यक्ति दूसरे के दु ख मे अपने दुःख को मिलाकर वोलता हे, तव ।उसके कण्ठ मे दो का वल होगा, जव तीसरा, उन दोनो के दु ख मे अपना दु ख मिलाकर वोलता है, तव उसके कण्ठ मे तीन का वल होगा। और इसी क्रम से जो असख्य व्यक्तियो के दु ख मे अपना दु ख खोकर वोलता है, उसके कण्ठ मे असीम वल रहना अनिवार्य है।

अन्तर्जगत् मे यह व्यापकता गहराई का रूप लेकर व्यष्टि से समष्टि तक पहुँचती है। सफल गायक वही है, जिसके गीत मे सामान्यता हो, अर्थात् जिसकी भावतीव्रता मे दूसरो को अपने सुख-दु ख की प्रतिध्वनि सुन पडे और यह तव स्वत सम्भव है, जव गायक अपने सुख-दुखो की गहराई मे डूवकर या दूसरे के उल्लासविपाद से सच्चा तादात्म्य कर गाता है।

भारतीय गीति-परम्परा आरम्भ मे ही वहुत समृद्ध रही, अत उसका प्रभाव सव युगो के गीतो को विविधता देता रह सका। ऐसा गीति-साहित्य जिसने सूक्ष्म ज्ञान का असीम विस्तार, प्रकृति-रूपो की अनन्तता और भाव का वहुरगी जगत् सँभाला हो, आगत काव्य-युगो पर प्रभाव डाले विना नही रहता।

तत्त्व की छाया और भाव की धरती पर विकास पाने के कारण यहाँ

वाणी का बहुत परिष्कार हुआ और जीवन का विस्तार गहन मिल गया। इसी म उच्चारण म छन्द वर्ण का भूल म स्य और व्याकरण म छन्द बन्धन का त्रुटि मार्जन हो उठा थी।

पावका न सरस्वती वाज वाजिनवता

महो अर्ण सरस्वती प्रचतयति केतुना
ऋग्वेद १ ३ १०, १२

(हमारी वाणी पवित्र रत्नवाली और अन्नसम्पन्न है। यह सरस्वती ज्ञान के महासागर का प्रबुद्ध करने म समर्थ है।)

यहाँ पवित्रता अर्थात् सूक्ष्म रूप म शब्द का ब्रह्म का जो तत्त्व प्रबुद्ध था। म सहायक हुई। गान की शक्ति वाणी म अदिति था क्योंकि वह शब्द के वचन का, लय म अन्तरण स्वर उसकी व्यापकता और बढ़ा देता था। इसी से पूरा सामगान जीवन-समुद्र पर, लय की लहराता सा पार बन जाता है। ऋग्वेद का मनीषी गाता है—

गानि वरुण सीमहि (हे मेरे वरणीय! मैं गान से तुम्हें बाँधता हूँ) इतना ही नहीं गीत गायक के प्रभु को भी प्रिय है—

सेम न स्तोमया गह्युपे सवन सुतम
गौरो न तृषित पिब। ऋ० १-१६ ५

(प्यासा गौर मृग जैसे जलाशय से जल पीता है वैसे ही तुम मेरे गीत म तन्मय होकर तृप्ति का अनुभव करो।)

तत्त्व की सरल व्याख्या प्रकृति की रूपात्मकता सौन्दर्य और शक्ति की सजीव साकारता, लौकिक जीवन के आकर्षक चित्र आदि इन गीतों को बहुत समृद्ध कर देते हैं। चिन्तन के अधिक विकास ने गीत के स्थान म गद्य को प्रधानता दी पर गीत का क्रम लोक-जीवन को घेरकर विविध रूपों म फलता रहा।

बौद्धधर्म जीवन की विषमता से उत्पन्न है अतः दुःखनिवृत्ति के अन्वेषक के समान वह भाव के प्रति अधिक निर्मम रहा, पर उसकी विशाल करुणासिक्त पृथ्वी पर जो गीत के फूल खिले, वे जीवन से सुरभित और दुःख के नीहारकणों से बोझिल हैं। वैयक्तिक विरागभरी गाथाएँ और सौन्दर्य की करुण कथाएँ

कहनेवाली थेरीगाथाएँ, अपनी भाषा और भाव के कारण वेद गीत और काव्यगीतो के वीच की कडी जैसी लगती है।

विशेषत निवृत्तिप्रधान गाथाओ से वैराग्य-गीतो को वहुत प्रेरणा मिल सकी। इन वीतराग भिक्षुओ का विहग, वन, पर्वत आदि के प्रति प्रशान्त अनुराग वेदकालीन प्रकृति-प्रेम का सहोदर है।

सुनीला सुसिखा सुपेखुणा सचित्तपत्तच्छदना विहगमा,
सुमञ्जुघोसत्थ निताभिगज्जिनो ते त रमिस्सन्ति वनम्हि झायिन।
थेरगाथा—११३६

(जव तुम वन मे ध्यानस्थ वैठे होगे तव गहरी नीली ग्रीवावाले सुन्दर शिखा-शोभी तथा शोभन चित्रित पखो से युक्त आकाशचारी विहगम अपने सुमधुर कलरव द्वारा, घोषभरे मेघ का अभिनन्दन करते हुए तुम्हे आनन्द देगे।)

यदा वलाका सुचिपिण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता,
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं।
थेर० ३०७

(जव ऊपर (आकाश मे) श्याम घनघटा से सभीत वगुलो की पाँत अपने उज्ज्वल श्वेत पख फैलाकर आश्रय खोजती हुई वसेरे की ओर उड चलती है, तव (नीचे उनका प्रतिविविम्व लेकर प्रवाहित) अजकरणी नदी मेरे हृदय मे प्रसन्नता भर देती है।)

अंगारिनो दानि दुमा भदन्ते फलेसिनो छदनं विप्पहाय,
ते अच्चिमन्तो व पभासयन्ति समयो महावीर भगीरसान।
दुमानि फुल्लानि मनोरमानि समन्ततो सव्वदिसे पवन्ति,
पत्तं पहाय फलमाससाना कालो इतो पक्कमनाय वीर।
थेर० ५२७-२८

(नयी कोपलो से अगारारुण वृक्षो ने फल की साध से जीर्णशीर्ण पल्लव-परिधान त्याग दिया है। अव वे लौ से युक्त जैसे उद्भासित हो रहे हैं। हे वीर-श्रेष्ठ ! हे तथागत ! यह समय नूतन आशा से स्पन्दित है।

द्रुमाली फूलो के भार से लदी है, सव दिशाएँ सौरभ से उच्छ्वसित हो उठी हैं और फल को स्थान देने के लिए दल झड रहे है। हे वीर ! यह हमारी यात्रा का मंगल मुहूर्त है।

वाणी का बहुत परिष्कृत रूप और जीवन का निश्चित स्पन्दन मिल सका। इसी से उच्चारण में एक वर्ण की भूल अक्षम्य और ध्वनि में एक कम्पन की त्रुटि असह्य हो उठती थी।

पावका न सरस्वती वाज वाजिनवती

महो अण सरस्वती प्रचेतयति कतुना
ऋग्वेद १ ३ १० १२

(हमारी वाणी पवित्र करनेवाली और एश्वर्यमती है। यह सरस्वती ज्ञान के महासागर तक पहुचाने म समर्थ है।)

यही पवित्रता अधिक सूक्ष्म रूप म शब्द को ब्रह्म की सत्ता तक पहुचाने म सहायक हुई। गीत की शक्ति वाणी स अधिक थी क्योंकि वह शब्दो के चयन को लय म सन्तरण देकर उनकी व्यापकता और बढा देता था। इसी स पूरा सामगान जीवन-समुद्र पर, लय का लहराता हुआ पाल बन जाता है। ऋग्वेद का मनीषी गाता है—

'गीर्भि वरुण सीमहि (हे मेरे वरणीय ! मैं गीत स तुम्हें बांधता हू) इतना ही नही गीत गायक के प्रभु को भी प्रिय है—

सेम न स्तोमया गह्यु पेद सवन सुतम
गौरो न तषित पिब। ऋ० १-१६५

(प्यासा गौर मृग जस जलाशय से जल पीता है, वसे ही तुम मेरे गीत म तन्मय होकर तृप्ति का अनुभव करो।)

तत्त्व की सरल व्याख्या, प्रकृति की रूपात्मकता सौन्दर्य और शक्ति की सजीव भावात्मकता लौकिक जीवन के आकर्षक चित्र आदि इन गीतों को बहुत समृद्ध कर देते हैं। चिन्तन के अधिक विकास न गीत के स्थान मे गद्य को प्रधानता दी पर गीत का क्रम लोक-जीवन को घेरकर विविध रूपों म फलता रहा।

बौद्धधर्म जीवन की विषमता से उत्पन्न है अत दुखनिवृत्ति के अन्वेषक के समान वह भाव के प्रति अधिक निमम रहा पर उसकी विशाल करुणासिक्त पृथ्वी पर जो गीत के फूल खिले वे जीवन से सुरभित और दुख के नीहारकणों से बोझिल हैं। वयक्तिक विरागभरी थेरगाथाए और सौन्दर्य की करुण कथाए

कहनेवाली थेरीगाथाएँ, अपनी भाषा और भाव के कारण वेद गीत और काव्यगीतो के वीच की कडी जैसी लगती है।

विशेषत निवृत्तिप्रधान गाथाओ से वैराग्य-गीतो को बहुत प्रेरणा मिल सकी। इन वीतराग भिक्षुओ का विहग, वन, पर्वत आदि के प्रति प्रशान्त अनुराग वेदकालीन प्रकृति-प्रेम का सहोदर है।

सुनीला सुसिखा सुपेखुणा सचित्तपत्तच्छदना विहगमा,
सुमञ्जुघोसत्थ निताभिगज्जिनो ते त रमिस्सन्ति वनम्हि झायिन।
थेरगाथा—११३६

(जव तुम वन मे ध्यानस्थ वैठे होगे तव गहरी नीली ग्रीवावाले सुन्दर शिखा-शोभी तथा शोभन चित्रित पखो से युक्त आकाशचारी विहगम अपने सुमधुर कलरव द्वारा, घोपभरे मेघ का अभिनन्दन करते हुए तुम्हे आनन्द देगे।)

यदा वलाका सुचिपिण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता,
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं।
थेर० ३०७

(जव ऊपर (आकाश मे) श्याम घनघटा से सभीत वगुलो की पाँत अपने उज्ज्वल श्वेत पख फैलाकर आश्रय खोजती हुई वसेरे की ओर उड चलती है, तव (नीचे उनका प्रतिविविम्व लेकर प्रवाहित) अजकरणी नदी मेरे हृदय मे प्रसन्नता भर देती है।)

अंगारिनो दानि दुमा भदन्ते फलेसिनो छदनं विप्पहाय,
ते अच्चिमन्तो व पभासयन्ति समयो महावीर भगीरसानं।
दुमानि फुल्लानि मनोरमानि समन्ततो सव्वदिसा पवन्ति,
पत्तं पहाय फलमाससाना कालो इतो पक्कमनाय वीर।
थेर० ५२७-२८

(नयी कोपलो से अंगारारुण वृक्षो ने फल की साध से जीर्णशीर्ण पल्लव-परिधान त्याग दिया है। अव वे लौ से युक्त जैसे उद्भासित हो रहे हैं। हे वीर-श्रेष्ठ! हे तथागत! यह समय नूतन आशा से स्पन्दित है।

द्रुमाली फूलो के भार से लदी है, सव दिशाएँ सौरभ से उच्छ्वसित हो उठी हैं और फल को स्थान देने के लिए दल झड रहे हैं। हे वीर! यह हमारी यात्रा का मगल मुहूर्त है।

भिक्षुणियाँ भी अपने नश्वर सौन्दय का परिचय देने के लिए प्रकृति को माध्यम बनाती हैं—

> कालका भमरवण्णसदिसा वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहु,
> ते जराय सालवाक सदिसा सच्चवादि वचन अनञ्ञथा।
> काननम्हि वनखण्डचारिणी कोकिला व मधुर निकूजित,
> त जराय खलित तहि तहि सच्चवादि वचन अनञ्ञथा।
> थेरीगाथा २५२-६१

(भ्रमरावली के समान सुचिक्कण काल और घुघराल मेर अलकगुच्छ जरा के कारण आज सन और वल्कल जस हो गये हैं। (परिवतन का चक्र इसी क्रम स चलता है) सत्यवादी का यह वचन मिथ्या नही।

वनखण्ड म सञ्चरण करती हुई कोकिला की कुहुक के समान मधुर मर स्वर का सगीत आज जरा के कारण टूट टूटकर बसुरा हो रहा है। (ध्वस का क्रम इसी प्रकार चलता है) सत्यवादी का यह वचन अयथा नही।)

सस्कृत-काव्य म क्रौञ्च की यथा से करुणाद्र श्रुषि गा नही उठा, जीवन के तार सभालने लगा और इस प्रकार कुछ समय तक रागिनी मूक रहकर तारा की झकार सुनती रही। पर का य का रा जब मौन हो जाता है तब लोक उस लय को सभाल लेता है इसी स गीत का स्थिति अनिश्चित नहा हो सकती। सस्कृत नाटको और प्राकृत का या म जो गीत हैं वे तत्कालीन लोक गीत ही कह जायग। यह प्राकृत-गीत लोक की भाषा और सरल मधुर शब्दावली क द्वारा प्रकृति और जीवन के बडे सहज सुदर चित्र अकित कर सक हैं।

भाव की मार्मिकता तथा अभिव्यक्ति की सरल शली की दृष्टि से हिन्दी गीतिका य प्राकृत-गीतो का बहुत आभारी है—

> एक्कक्कमपरिरक्खणपहार समुहे कुरङ्गमिहुणम्मि।
> वाहेण मण्णुविअलन्तवाह धोअ धणु मुक्कम॥
> गाथा सप्तशती ७ १

(मृग-मृगी क जोड म स जब प्रत्यक दूसर को प्राण से बचाने के लिए लक्ष्य के सामन आने लगा तब करुणाद्र याध न आसुआ स धुला धनुप रख दिया।)

खरपवणरअगलत्थिअ गिरि ऊडावडणभिण्णदेहस्स ।
धुक्काधुक्कईजीअं व विज्जुआ कालमेहस्स ॥
गाथा० ६-८३

(जव प्रचण्ड पवन ने उसे गला पकडकर पर्वतशिखर से नीचे फेक दिया, तव छिन्न-भिन्न शरीरवाले काले मेघ के भीतर विद्युत् प्राण के समान धुकधुका उठी ।)

उअ णिच्चलणिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ वलाआ ।
णिम्मल मरगअ भाअण परिट्ठिआ सख-सुत्ति व्व ॥
गाथा० १-५

(देखो कमल के पत्र पर वलाका (वकी) कैसी निश्चल नि.स्पन्द वैठी है । वह तो निर्मल मरकत के पात्र मे रक्खी हुई शखशुक्ति जैसी लगती है ।)

इस प्रकार के, कही करुण, कही सजीव और कही सुन्दर चित्रो की सरल मार्मिकता ने हमारे लोक-गीतो पर ही नही, पद-साहित्य पर भी अपनी छाया डाली है ।

हिन्दी गीति-काव्य मे भारतीय गीति-परम्परा की मूल-प्रवृत्तियो का आ जाना स्वाभाविक ही था । तत्व-चिन्तन और उससे उत्पन्न रहस्यानुभूति, प्रकृति और मनुष्य का सौन्दर्य-दर्शन, स्वानुभूत सुख-दु खो की चित्रमय अभिव्यक्ति आदि ने इन गीतो को विविधता भी दी है और व्यापकता भी ।

कवीर के निर्गुण-गीतो ने ज्ञान को फिर गेयता देने का प्रयास किया है । 'मैं तैं तै मै ए द्वै नाही । आपै अघट सकल घट मॉही ।' जैसे पदो मे वेदान्त मुखरित हो उठा है और—

'गगन-मँडल रवि ससि दोइ तारा । उलटी कूँची लागि किवारा ।' आदि चित्रो मे साधनात्मक योग की रूप-रेखाएँ अकित है ।

रूपक-पद्धति के सहारे जीवन-रहस्यो का उद्घाटन भी हमारे तत्त्व-चिन्तन मे वहुत विकसित रूप पा चुका था ।

कवीर की

पॉच सखी मिलि कीन्ह रसोई एक ते एक सयानी,
दूनो थार वरावर परसै जेवै मुनि अरु ज्ञानी ॥

आदि पक्तियो मे व्यक्त रूपक-पद्धति का इतिहास कितना पुराना है, यह

तब प्रकट होता है जब हम उन्हें अथर्व के निम्न रूपक के साथ रखकर देखते हैं—

तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्राम वयत षण्मयूखम।
प्रा यान्ति तूर्स्तिरति धत्ते अन्या नापवृञ्जाते न गमातो अन्तम् ॥

(दो गौर श्याम युवतियाँ (उषा रात्रि) क्रम से बार बार आ जाकर छ खूँटोवाले (ऋतुओंवाले) जाल को (विश्वरूप को) बुनती हैं। एक सूत्रों को (किरणों को) फलाती है दूसरी गाठती (अपने म समेट लेती) है, वे कभी विश्राम नहीं करती पर तो भी काम की समाप्ति तक नहीं पहुच पाती।)

निर्गुण उपासक तत्त्वद्रष्टा ही नहीं तत्व रूप का अनुरागी भी है अत उसका मिलन विरह समस्त विश्व का उल्लास विषाद बन जाता है। प्रकृति वहाँ एक परम तत्व की अभिव्यक्ति है। अत उसके सौन्दर्य म सौरभ जसा स्पर्श है जो प्रत्येक का होकर भी किसी एक का नहीं बन सकता और भाव म आलोक जसा रग है जो किसी वस्तु पर पडकर उससे भिन्न नहीं रहता।

निर्गुण गायक अपने सुख दु खो की अनुभूति को विस्तार देकर सामान्य बनाता है और सगुण-गायक अपने सुख-दु खो को गहराई दकर उन्हें सबका बनाता है। एक ज्ञान के लिए हृदयवादी है दूसरा भाव के लिए रूपवादी।

सगुण-गीतो का आधार सौन्दर्य और शक्ति की पूर्णतम अभिव्यक्ति होने के कारण प्रकृति और जीवन का केन्द्र बिन्दु बन गया है अत भावो की शबलता और रूपो की विविधता उसे घेरकर ही सफल हो सकती है। सस्कृत काव्यो के समान ही इन चित्र और भाव गीतो म प्रकृति विविध रूपी है। कही वह अपनी स्वतन्त्र रूपरेखा म यथार्थ है कहीं हृदय के हर स्वर मे स्वर मिलाने वाली रहस्यमयी सगिनी है कहीं मनुष्य के स्वानुभूत सुख दु खो की मात्रा बताने का साधन है और कहा आराध्य के सौन्दर्य शक्ति आदि की छाया है।

बरसत मेघवत धरनी पर।
चपला चमकि चमकि चकचौंधति करति सबद आघात
अन्धाधुन्ध पवनवतक घन करत फिरत उत्पात।
—सूर

उपर्युक्त गीत म मेघ की चित्रमयता यथार्थ है पर जब घटा देखकर विरह व्यथित मीरा पुकार उठती है—

मतवारो वादल आयो रे,
मेरे पी को सँदेसो नहि लायो रे।

तव हमे वादल की वही सजीव पर रहस्यमयी साकारता मिलती है, जो मेघदूत के मेघ मे यक्ष ने पाई थी। 'निसिदिन वरसत नयन हमारे' मे वर्षा, रुदन की चित्रमय व्याख्या वनकर उपस्थित होती है और 'आजु-घन श्याम की अनुहारि' जैसी पक्तियो मे मेघ कृष्ण की छाया से उद्भासित हो कृष्ण जैसा वन गया हे। स्वानुभूति-प्रधान इन गीतो ने हृदयगत मर्म को चित्रमयता और वाह्य प्रकृति-रूपो को व्यापकता दी है।

इनकी स्वरलहरी हमारे जीवन के विस्तार और गहराई मे कितने स्थायी रूप से वस गयी है, इसका परिचय काव्य-गीत और लोकगीत दोनो देते है।

भारतेन्दु-युग हमारे साहित्य का ऐसा वर्षाकाल है, जिसमे सभी प्रवृत्तियाँ अकुरित हो उठी है, अत गीत भी किसी भूली रागिनी के समान मिल जाते है तो आश्चार्य नही। ये गीत स्वतन्त्र अस्तित्व न रखकर गद्य-रचनाओ के वीच मे आये है, इसलिए विपय, भाव आदि की दृष्टि से इनका कुछ वँधा हुआ होना स्वाभाविक है, पर इनमे कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी मिलेगी जो अतीत और वर्तमान गीति-मुक्तको को जोडने मे समर्थ है। प्रकृति के सहज चित्र, यथार्थ की गाथा, राष्ट्रीय उद्वोधन, और सामाजिक धार्मिक विकृतियो के प्रति व्यग, भारतेन्दु के गीतो को विविधता देते है।

भई आधि राति वन सनसनात,
पथ पछी कोउ आवत न जात,
जग प्रकृति भई जनु थिर लखात,
पातहु नहि पावत तरुन हलन।

उपर्युक्त पक्तियो मे रात की रेखाओ मे नि स्तव्धता का रग है; पर जहाँ कवि ने प्रकृति के सम्वन्ध मे परम्परा का अनुसरण मात्र करना चाहा, वहाँ वह सजीव स्पन्दन खो गया-सा जान पडता है—

अहो कुञ्ज वन लता विरुध तृन पूछत तोसो,
तुम देखे कहुँ श्याम मनोहर कहहु न मोसो!

भाव-गीतो मे सगुण-निर्गुण गीतो की शैली ही नही, कल्पना का भी प्रभाव है—

मरम की पीर न जानत कोय।

ननन मे पुतरी करि राखौं पलकन ओटि दुराय,
हियरे मे मनहू के अतर करौ लेउ लुकाय।

तत्कालीन जीवन और समाज की विषमता की अनुभूति और प्राचीन समृद्धि के नान ने यगमय यथाथ चिन्ता और विषादभरे राष्ट्र गीतो को प्रेरणा दी है—

घन गरज जल बरस इन पर विपति पर छिन आइ
ये वज्रमारे तनिक न चौंकत ऐसी जडता छाई।

भारत जननी जिय क्यों उदास,
बठी इकली कोउ नाहि पास।
किन देखहु यह ऋतुपति प्रकास
फूली सरसों वन करि उजास।

पृथ्वी की मातृरूप म कल्पना हमारे बहुत पुराने सस्कार से सम्बन्ध रखती ह। अथव का पृथ्वीगीत चिन्मय और यथाथ होने के साथ-साथ मातृवन्दना भी हैं—

गिरयस्ते पवता हिमव तोरण्य ते पथिविस्योनमस्तु।

पवस्य माता भूमि पुत्रो अह पथिव्या।

(ये तेरे पवत और तुषार स आच्छादित तुग शिखर ये तेरे वन हमारे लिए सुखकर हो। हे मातृ भू ! तू मुझे पवित्र कर मैं पृथिवी का पुत्र हू।)

खडी बोली के आरम्भ म जीवन प्रकृति नीति राष्ट्र आदि पर आश्रित मुक्तक लिखे गये परन्तु उनमे गेयता के लिए स्थान कम था। वास्तव मे गीत सरल मधुर परिचित और प्रयोग से मँजी हुई शब्दावली से आकार और भाव तीव्रता से आत्मा चाहता है और किसी भाषा क आदियुग म गीत के रूप और प्राण को सामञ्जस्य पूण स्थिति न मिलने के कारण उसका विकास कठिन हो जाता है। गीत अपनी धरती और आकाश से इस प्रकार बधा है कि कुशल से कुशल गायक भी विदेशी भाषा म गा नही पाता।

खडी बोली के गीत हमे प्रबन्ध-काव्यो मे तब प्राप्त हुए, जब उससे हमारा
[हृ]दय परिचित हो चुका था, भाषा मँज चुकी थी और भाव शब्द पर तुल चुका
[थ]ा। शुद्ध संस्कृत शब्दावली और उसके वर्णवृत्त अपनाने वाले कवियो पर
[सं]स्कृत-काव्यो का प्रभाव होना अनिवार्य ही था। रीतियुग के चमत्कार से
[स]हानुभूति न रखने के कारण इन कवियो ने संस्कृत काव्यो की वह शैली
[अ]पनायी जिसमे प्रकृति की रेखाएँ स्पष्ट, सरल और जीवन के रंग जाने-पहचाने
[स]े लगते हैं। 'साकेत' मे चित्रकूट की वनवासिनी सीता

किसलय-कर स्वागत हेतु हिला करते है।

....

तृण तृण पर मुक्ता-भार झिला करते हैं।

[ग]ाकर प्रकृति का जो शब्दचित्र उपस्थित करती है, उसकी रेखा रेखा हमारी
जानी-बूझी है। इसी प्रकार विरहिणी उर्मिला—

न जा अधीर धूल में,
दृगम्बु आ दुकूल में!

....

तुम्हारे हँसने मे है फूल हमारे रोने में मोती!

आदि मे अपनी व्यथा को जो ध्वनिमय साकारता देती है, उससे भी हमारा
पुरातन परिचय है। यशोधरा के मर्म-गीत ही नही, कवि के रहस्य-गीत भी सरल
शब्दावली और परिचित भावो के कारण इतने ही निकट जान पडते है। इनमे
तीव्र भावा-वेग नही, जीवन का स्वाभाविक उच्छ्वास है, जो कभी-कभी अति-
परिचय से साधारण बन जाता है।

छायावाद व्यथा का सवेरा है, अत उसके प्रभाती गीतो की सुनहली आभा
पर आँसुओ की नमी है। स्वानुभूति को प्रधानता देनेवाले इन सुख-दु:ख भरे
गीतो के पीछे भी इतिहास है। जीवन व्यस्त तो बहुत था, पर उसके कर्माडम्बर
मे सृजन का कोई क्रम न मिलता था। समाज-संस्कृति सम्बन्धी आदर्शों और
विश्वासो को एक पग मे नापने के लिए, जिज्ञासा वामन से विराट् हुई जा रही
थी। बहुत दिनो से शरीर का शासन सहते-सहते हृदय विद्रोही हो उठा था।
नवीन सभ्यता हमे प्रकृति से इतनी दूर ले आयी थी कि पुराना रूप-दर्शन जनित
संस्कार खोई वस्तु की स्मृति के समान बार-बार कसक उठता था। राष्ट्रीयता

की चर्चा और समय की आवश्यकता न हमें पिछला इतिहास देखने के लिए अवसर दे दिया था। भारतेन्दु युग की विषादभरी ध्वनि—

'अब तजहु वीरवर भारत की सब आसा' ने असख्य प्रतिध्वनियाँ जगाकर हमे अतिम बार अपने जीवन की सूक्ष्म और व्यापक शक्ति की परीक्षा करने के लिए विवश कर दिया था।

आनन्द से मनुष्य जब चचल होता है, तब भी गाता है और व्यथा से जब हृदय भारी हो जाता है, तब भी गाता है, क्योकि एक उसके हर्ष को बाहर फैलाकर जीवन को सन्तुलन देता है और दूसरा उसकी नि स्तब्धता म सवेदन की लहर पर लहर उठाकर जीवन को गतिरुद्ध होने से बचाता है।

गत महायुद्ध की तमसा के विषाद भरे प्रभात म रुधिर से गीली धरती और क्रूरता से सूखा निरभ्र आकाश देखकर कवि के हृदय म प्रश्न उठना स्वाभाविक हो गया—जीवन क्या विषम खण्डो का समूह मात्र है जिसम एक खण्ड दूसरे के विरोध मे ही स्थिति रखेगा ? हृदय क्या मासल यत्र मात्र है जिसम परस्पर पीड़ा पहुँचाने के साधनो का ही आविष्कार होता रहेगा ? प्रकृति क्या लौहागार मात्र है, जिसम एक दूसरे को क्षत विक्षत करने के लिए अमोघ अस्त्र शस्त्र ही गढे जायँगे ?

भारतीय कवि को उसके सब प्रश्नो का उत्तर जीवन की उसी अखण्डता म मिला जिसकी छाया म लघु-गुरु कोमल-कठोर, कुरूप-सुन्दर सब सापेक्ष बन जाते हैं।

जीवन को जीवन से मिलाने के लिए तथा जीवन को प्रकृति से एक करने के लिए उसने वही सर्वात्मक हृदयवाद स्वीकार किया जो सबकी मुक्ति मे उसे मुक्त कर सकता था। जीवन की विविधरूप एकता के सम्बन्ध म छायायुग के प्रतिनिधि गायको के स्वर भिन्न पर राग एक है—

> अपने सुख दुख से पुलकित,
> यह मूर्त विश्व सचराचर
> चिति का विराट वपु मगल
> यह सत्य सतत चिर सुन्दर !
>
> —प्रसाद

> जिस स्वर से भरे नवल नीरद
> हुए प्राण पावन गा हुआ हृदय भी गद्गद्
> जिस स्वर वर्षा ने भर दिये सरित-सर-सागर

मेरी यह धरा हुई धन्य भरा नीलाम्बर !
वह स्वर शर्मद उनके कण्ठों में गा दो !
—निराला

एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि मे हरित-विलास
शान्त अम्बर में नील विकास ;
—पन्त

जीवन मे सामजस्य को खोजनेवाले कवि ने वाह्य विभिन्नता से अधिक अन्तरतम की एकता को महत्व दिया और आधुनिक युग के मनुष्य-निर्मित आश्चर्यो के स्थान मे प्रकृति की रहस्यमय स्वाभाविकता को स्वीकार किया। तत्वगत एकता और सौन्दर्यगत विविधता ने एक ओर रहस्यगीतो के निराकार को अनन्त रूप दिये और दूसरी ओर प्रकृति-गीतो के सौन्दर्य को भाव के निरन्तर श्वासोच्छ्वास मे विस्तार दिया।

सगीत के पखो पर चलनेवाले हृदयवाद की छाया मे गीत विविधरूपी हो उठे। स्वानुभूत सुख-दु खो के भाव-गीत, लौकिक मिलन-विरह, आशा-निराशा पर आश्रित जीवन-गीत, सौन्दर्य को सजीवता देनेवाले चित्रगीत, सबकी उपस्थिति सहज हो गयी।

पर इस भावगत सर्ववाद मे इतिवृत्तात्मक यथार्थ की स्थिति कुछ कठिन हो जाती है। छायावाद की रूप-समष्टि मे प्रकृति और जीवन की रेखाएँ उलझ-कर सूक्ष्म तथा रग घुल-मिलकर रहस्यमय हो उठते है। इसके विपरीत इतिवृत्त को कठिन रेखाओ और निश्चित रगो की आवश्यकता रहती है, क्योकि वह केवल उसी वस्तु को देखता है, जिसका उसे चित्र देना है—आसपास की रूप-समष्टि के प्रति उसे कोई आकर्षण नही।

इसके अतिरिक्त गीत स्वय एक भावावेश है और भावावेश मे वस्तुएँ कुछ अतिशयोक्ति के साथ देखी जाती है। साथ ही गायक अपने सुख-दु खो को अधिक से अधिक व्यापकता देने की इच्छा रखता है, अन्यथा गाने की आवश्यकता ही न रहे।

इस प्रकार प्रत्येक गीत भाव की गहराई और अनुभूति की सामान्यता से बँधा रहेगा। मिट्टी से ऊपर तक भरे पात्र मे जैसे रजकण ही अपने भीतर पानी के लिए जगह बना देते है, वैसे ही यथार्थ के लिए भाव मे ऐसी

स्वाभाविक स्थिति चाहिए जो भाव ही से मिल सके। इससे अधिक इतिवृत्त गीत में नहीं समा पाता।

छायावाद के गीतों का यथार्थ कभी भाव की छाया में चलता है और कभी दर्शनात्मक आत्मबोध की।

भाव की छाया मनुष्य और प्रकृति दोनों की यथार्थ रेखाओं को एक रहस्यमयता दे देती है—

> नभ ये काले काले बादल,
> नील सिंधु में खुले कमल दल!
>
> —निराला

में मेघ रूप की जिस अनन्त समष्टि के साथ है—

> गहरे धुंधले धुले साँवले
> मेघों से मेरे भरे नयन,
>
> —पंत

में मनुष्य भी उसी समष्टि में स्थिति रखता है।

जीवन का तत्वगत भाव बाह्य अनेकता पार कर अन्तर की एकता पर आश्रित रहेगा, अतः—

> चेतन समुद्र में जीवन
> लहरों सा बिखर पड़ा है।
>
> —प्रसाद

> मृण्मय दीपों में दीपित हम
> शाश्वत प्रकाश की शिखा सुषम।
>
> —पंत

जैसी अनुभूतियों में यथार्थ की रेखाएँ घुल मिल जाती हैं।

इतना ही नहीं—

> पीठ पेट दोनों मिलकर हैं एक
> चल रहा लकुटिया टेक।

जैसी पंक्तियों में भिखारी की, जो यथार्थ रेखाएँ हैं उनका कठोर बन्धन भी आत्मबोध की अन्तःफल्गु को बाहर फूट निकलने से नहीं रोक पाता, इसी से ऐसे यथार्थ चित्र के अन्त में कवि कह उठता है—

ठहरो अहो मेरे हृदय में है अमृत मै सींच दूंगा।
—निराला

राष्ट्रगीतो मे भी एक प्रकार की रहस्यमयता का आ जाना स्वाभाविक हो गया। भारतेन्दु-युग ने इस देश को सामाजिक और राजनैतिक विकृतियो के बीच मे देखा, अत 'सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा' कहना स्वाभाविक हो गया। खडी वोली के वैतालिकों ने उसे प्राकृतिक समृद्धि के वीच मे प्रतिष्ठित कर 'सूर्यचन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है' कहकर मूर्त्तिमत्ता दी। छायावाद ने इस सौन्दर्य मे सूक्ष्म स्पन्दन की अनुभूति प्राप्त की—

अरुण यह मधुमय देश हमारा !
वरसाती आँखों के वादल बनते जहाँ भरे करुणा-जल,
लहरें टकरातीं अनन्त की, पाकर कूल किनारा।
—प्रसाद

भारतेन्दु-युग के— 'चलहु वीर उठि तुरत सबै जयध्वजहिं उडाओ' आदि अभियान-गीतो मे राष्ट्रीय जय-पराजय-गान के जो अकुर हैं, वे उत्तरोत्तर विकसित होते गये—

हिमाद्रि तुग शृग से,
प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला,
स्वतन्त्रता पुकारती।
—प्रसाद

आदि अभियान-गीत सस्कृत के वर्णवृत्तो से रूप और अपने युग की रहस्यमयता से स्पन्दन पाते हैं। राष्ट्रगीतो मे वही निर्धूम करुण दीप्ति है, जो मोम-दीपो मे मिलेगी।

पुरातन गौरव की ओर प्राय सभी कवियो का ध्यान आकर्पित हुआ; क्योकि विना पिछले सास्कृतिक मूल्यो के ज्ञान के मनुष्य नये मूल्य निश्चित करने मे असमर्थ रहता है—

जगे हम लगे जगाने विश्व
लोक मे फैला फिर आलोक,
व्योम-तम-पुञ्ज हुआ तव नाश
अखिल ससृति हो उठी अशोक।
—प्रसाद

भूतियों का विगलित छवि-जाल
ज्योति-चुम्बित जगती का भाल ?
—पन्त

मन के गगन के
अभिलाष घन उस समय
जानते थे घपण ही
उदगीरण वज्र नहीं।
—निराला

इस प्रवत्ति ने इन कवियों को एक ऐसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि दी जिस पर उनके निराशा के गीत भी आशा से आलोकोज्ज्वल हो उठे और व्यक्तिगत सुख-दुःख भी विशाल होकर उपस्थित हो सके।

काव्य गीतों के साथ साथ समानान्तर पर चलनेवाली लोक-गीतों की परम्परा भी उपेक्षा के योग्य नहीं क्योंकि वह साहित्य की मूल प्रवत्तियों को सुरक्षित रखती आ रही है। प्रायः जब प्रबन्धों के शंखनाद में गीत का मधुर स्वर मूक हो जाता है तब उसकी प्रतिध्वनि लोक हृदय के तारों में गूंजती रहती है। इसी प्रकार गीत की रागिनी जब काव्य को कथा-साहित्य की ओर से वीतराग बना देती है तब वे कथाएं सरल आख्यान और किंवदन्तियों के रूप में लोक-काव्यों में कही सुनी जाती हैं। जब आधुनिक जीवन की कृत्रिम चकाचौंध में प्रकृति पर दृष्टि रखना कठिन हो जाता है, तब लोक और ग्राम में वह जीवन के पार्श्व में खड़ी रहती है। जब बदली परिस्थितियों में रण-कंकण खुल चुकते हैं केसरिया बाने उतर चुकते हैं तब लोक-गीत वीररस को पुनर्जन्म देते रहते हैं।

इस प्रकार न जाने कितनी का व्य-समृद्धि हम लोक-गीत लौटाते रहे हैं। इन गीतों के गायक जीवन के अधिक समीप और प्रकृति की विस्तृत स्पन्दित छाया में विकास पाते हैं अतः उनके गीतों में भारतीय काव्य-गीतों की मूल-प्रवृत्तियों का अभाव नहीं है। इन गीतों के सम्बन्ध में हमारी धारणा बन गयी है कि वे केवल इतिवृत्तात्मक जीवनचित्र हैं परन्तु उनका थोड़ा परिचय भी इसे भ्रान्त प्रमाणित कर सकेगा।

जैसे गीत के पद्य होने पर भी प्रत्येक तुकबन्दी गीत नहीं कही जायगी इसी प्रकार लोक-जीवन के सब व्यापार गेयता नहीं पा सकते। इसका सबसे अकाट्य प्रमाण हमें ग्राम्य जीवन में मिलेगा, जहाँ लोक का सारा मान-कोष कण्ठ ही में

रहता है। पशु सम्वन्धी ज्ञान, खेती सम्वन्धी विज्ञान, जीवन की अन्य स्थूल-सूक्ष्म समस्याओ के समाधान, सव पद्य की रूपरेखा मे वँधकर पीढ़ियो तक चलते रहते है। पर गेयता का महत्त्व इन तुकवन्दियो मे नही खो जाता। गीतो मे उतना ही यथार्थ लिया जाता है, जितना भाव को भारी न वना दे। लोकगीतो मे टेक की तरह आनेवाला यथार्थ सूक्ष्म वायुमण्डल को घेरनेवाली दिशाओ के समान स्वर-लहरी को फैलाने के लिए अपनी स्थिति रखता है, उसे रूँध डालने के लिए नही।

हमारा यह विना लिखा गीतकाव्य भी विविधरूपी है और जीवन के अधिक समीप होने के कारण उन सभी प्रवृत्तियो के मूल रूपो का परिचय देने मे समर्थ है, जो हमारे काव्य मे सूक्ष्म और विकसित होती रह सकी।

प्रकृति को चेतन व्यक्तित्व देने की प्रवृत्ति लोक जीवन मे अधिक स्वाभाविक रहती है, इसी से सूर्य-चन्द्र से लेकर वृक्ष-लता तक सव एक ओर सजीव, स्वतन्त्र अस्तित्व रखते है और दूसरी ओर जीवन के साथ सापेक्ष स्थिति मे रहते हैं।

ग्राम की विरहिणी वाला अपने उसी रात लौटनेवाले पति के स्वागत का प्रवन्ध चन्द्रमा को सौपने मे कुण्ठित नही होती—

आजु उओ मोरे चन्दा जुन्हइया आँगन लीपै,
झिलमिल होहिं तरइयां तो मोतियन चौक धरै।

(हे मेरे चन्द्र तुम आज उदय हो! तुम्हारी चाँदनी मेरे आँगन को लीपकर उज्ज्वल कर दे और ये झिलमिलाती तारिकाएँ मोतियो का चौक वन जावें।)

प्रकृति के जीवन के साथ उनके जीवन का ऐसा सम्वन्ध है कि वे अपने सुख-दुःख, सयोग-वियोग सव मे उसी के साथ हँसना-रोना, मिलना-विछुडना चाहते हे—तभी तो पिता के घर से पतिगृह जाती हुई व्यथित वालिका वधू कहती है—

मोरी डोलिया सजी है दुआर वावुल तोरी पाहुनियाँ!
फूलै जव अँगना का नीम फरै जव नारङ्गिया,
सुध कर लीजो एक वार कूकै जव कोइलिया।
वौरै जव वगिया का अमवा झूलन डारै सव सखियाँ,
पठइयो विरन हमार घिरैं जव वादरियाँ।

(हे पिता द्वार पर मेरी डोली आ गयी है! अव मै तुम्हारी अतिथि हूँ।

पर जब आगन का नीम फूलो से भर जाय, नारगी जब फलों से लद जाय और जब कोयल कूक उठे तब एक बार तुम मेरी सुधि कर लेना।

जब बाग का रसाल बौरने लगे, उसकी डाल पर सखियाँ झूला डालें और पावस की काली बदली घिर आव, तब तुम मेरे भैया को मुझे लेने के लिए भेज देना।)

इस चित्र के पाश्व म हमारी स्मृति उस करुण मधुर शकुतला का चित्र आक देती है, जो पिता से लता के फूलने और मृगशावक के उत्पन्न होने का समाचार भेजने के लिए अनुरोध करती है तथा जिसके लिए कण्व वक्ष लताओ से कहते है—

> पातु न प्रथम व्यवस्यति जल युष्मास्वपीतेषु या
> नादत्ते प्रियमण्डनापि भवता स्नेहेन या पल्लवम्।
> आद्ये व कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सव
> सेय याति शकुतला पतिगृह सर्वैरनुज्ञायताम्॥

(जो तुम्हे पिलाये (सीचे) बिना स्वय जल नही पाती, शृगार से अनुराग रखने पर भी स्नेह के कारण तुम्हारे पल्लव नही तोडती, तुम्हारा फूलना जिसके लिए उत्सव है वही शकुतला आज पति के घर जा रही है, तुम सब इसे विदा दो।)

इन दो चित्रो के साथ जब हम इस ग्रामवधू का चित्र देखते हैं—

> नहीं आँसुओं से आँचल तर
> जन विछोह से हृदय न कातर
> रोती वह रोने का अवसर
> जाती ग्रामवधू पति के घर!
>
> —ग्राम्या

तब अपने दृष्टिकोण की उस विषमता और हृदय के उस दारिद्रय पर विस्मित हुए बिना नही रहते, जो हमी को जड नहीं बनाता, दूसरो को भी यन्त्र के समान ही अकित करना चाहता है।

रहस्य-गीता की रूपकमय पद्धति भी इन गीतो का गगायमुनी आभा म स्नात कर देती है—

> नइया मोरी झाँझरिया—नइया मोरी०
> घहरै बदरिया कारी हहर बहै पुरवइया,
> छूट रही पतवार तो रूठो खेवइया—नइया मोरी०

(मेरी नाव जर्जर है, काली घटा घहराकर उमड आई है, पुरवइया पवन के झकोरे हहराते हुए वह रहे है, पतवार हाथ से छूट गयी है और मेरा कर्णधार न जाने कहाँ रूठा वैठा है ।)

उपर्युक्त पक्तियो मे रहस्य के साथ जीवन की प्रत्यक्ष विपन्नावस्था का जो चित्र अकित है, उसमे न रेखाओ की कमी है, न रग मे भूल । इतना ही नही, दर्शन जैसे गहन विपय पर आश्रित गीत भी न वाह्य यथार्थता मे रहस्य की सूक्ष्मता खोते है, न अध्यात्म की गहनता मे अपने लौकिक रूपो को डुवाते है ।

एक कदम इक डार वसै वे दुइ पँखियाँ रे ।
सरग उड़न्ती एक उड़त फिरै दिन-रतियाँ रे;
चुगत-चुगत गयी दूर सो दूसर अनमनियाँ रे,
मारो वियाधा ने वान रोवन लागी दोउ अँखियाँ रे ।

(एक कदम्ब की एक ही डाल पर वे दो विहग वसते है । उनमे एक अन्तरिक्ष मे रात-दिन उडता ही रहता है, दूसरा उन्मन भाव से चुगता-चुगता दूर निकल गया और उसे एक व्याध ने वाण से वेध लिया । तव उसकी दोनो आँखे आँसू वरसाने लगी ।)

यह मण्डूकोपनिपद् के 'द्वा सुपर्णा सायुजा' आदि मे व्यक्त भाव का अधिक भावगत रूप ही कहा जायगा ।

हमारे काव्य के भाव और चिन्तन दोनो की अधिक सहज, स्वाभाविक प्रतिच्छाया लोकगीतो मे मिलती है । इसका कारण हमारे सगुण-निर्गुण-गीतो की जीवन-व्यापी मर्मस्पर्शिता और सरलता ही जान पडती है ।

यदि हम भापा, भाव, छन्द आदि की दृष्टि से लोकगीत और काव्यगीतो की सहृदयता के साथ परीक्षा करे, तो दोनो के मूल मे एक-सी प्रवृत्तियाँ मिलेगी ।

यथार्थ और आदर्श

●●

सन्तुलन का अभाव हमारा जातीय गुण चाहे न कहा जा सके, परन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि एक दीर्घ काल से हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में यही त्रुटि विशेषता बनती आ रही है। हमारी स्थिति या तो एक सीमा पर सम्भव है या दूसरी पर, किन्तु समन्वय के किसी भी रूप से हमारा हृदय जितना विरक्त है, बुद्धि उतनी ही विमुख। या तो हम ऐसे आध्यात्मिक कवच से ढके वीर हैं कि जीवन की स्थूलता हमें किसी ओर से भी स्पर्श नहीं कर सकती, या ऐसे मुक्त जड़वादी कि सम्पूर्ण जीवन बालू के अनमिल कणों के समान बिखर जाता है, या तो ऐसे तन्मय स्वप्नदर्शी हैं कि अपने पैर के नीचे की धरती का भी अनुभव नहीं कर पाते, या यथार्थ के ऐसे अनुगत कि सामंजस्य का आदर्श भी मिथ्या जान पड़ता है, या तो अलौकिकता के ऐसे अनन्य पुजारी हैं कि आकाश की ओर उद्ग्रीव रहने को ही जीवन की चरम परिणति मानते हैं, या लोक के ऐसे एकनिष्ठ उपासक कि मिट्टी में मुख गड़ाये पड़े रहने ही को विकास की पराकाष्ठा समझते हैं। आज जब बाह्य जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले राजनीति समाज आदि के क्षेत्रों में भी हमारे इस एकांगी दृष्टिकोण ने हमें केवल प्रतिक्रियात्मक ध्वंस में ही जीवित रहने पर बाध्य किया है, तब काव्य के सम्बन्ध में क्या कहा जावे, जिसमें हमारी सारी विषमताएँ अपेक्षाकृत निर्बन्ध विकास पा सकती हैं।

प्रत्येक प्रतिक्रिया किसी विशेष प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखने के कारण तीव्र और एकांगी होती है। यदि उसे भूत और भविष्य की एक समन्वयात्मक कल्पना से सञ्चालित न किया जावे तो वह विकास का अवकाश न देकर विषमताओं की शृंखला बनाती चलती है। यह सत्य है कि जीवन की गतिशीलता के लिए

क्रिया-प्रतिक्रिया दोनो की आवश्यकता रहती हे। पर इस गति की लक्ष्यहीनता को विकास से जोड देना, हमारी दृष्टि की उसी व्यापकता पर निर्भर है, जो आकाश के नक्षत्र से धरती के फूल तक आ-जा सकती है।

साधारण रूप से गिरना, पडना, भटकना सभी अचलता से भिन्न है, परन्तु गति तो वही स्थिति कही जायगी, जिसमे हमारे पैरो मे सन्तुलन और दृष्टिपथ मे एक निश्चित गन्तव्य रहता है। प्रतिक्रिया की उपस्थिति किसी प्रकार भी यह नही प्रमाणित कर देती कि हमारे ध्वसात्मक विद्रोह ने सृजन की समस्या भी सुलझा ली है। यो तो आँधी और तूफान की भी आवश्यकता है, अतिवृष्टि और अनावृष्टि का भी उपयोग है, परन्तु यह कौन कहेगा कि वह आँधी-तूफान को ही श्वासोच्छ्वास बना लेगा, केवल अतिवृष्टि या केवल अनावृष्टि मे ही बोये काटेगा। प्रत्येक उथल-पुथल मे से निर्माण का जो तन्तु आ रहा है, उसे ग्रहण कर लेना ही विकास है, परन्तु यह कार्य उनके लिए सहज नही होता, जिनकी दृष्टि क्रिया-प्रतिक्रिया के उत्तेजक आज तक ही सीमित रहती है। ध्वस मे केवल आवेग की तीव्रता ही अपेक्षित हे, पर निर्माण मे सृजनात्मक सयम के साथ-साथ समन्वयात्मक दृष्टि की व्यापकता भी चाहिए। प्रासाद का गिरना किसी कौशल की अपेक्षा नही रखता, परन्तु बिना किसी शिल्पी के, मिट्टी का कच्चा घर बना लेना भी कठिन होगा, इसी से प्राय राजनीतिक क्रान्तियो के ध्वसयुग के सूत्रधार निर्माण-युग मे अपना स्थान दूसरो के लिए रिक्त करते रहे है।

काव्य-साहित्य और अन्य कलाएँ मूलत सृजनात्मक है, अत. उनमे राजनीति के कार्य-विभाजन जैसा कोई विभाजन सम्भव ही नही होता। कोई भी सच्चा कलाकार ध्वसयुग का अग्रदूत रहकर निर्माण का भार दूसरो पर नही छोड जा सकता, क्योकि उसकी रचना तो निर्माण तक पहुँचने के लिए ही ध्वस का पथ पार करती है। जिस प्रकार मिट्टी की क्रिया से गला और अपनी प्रतिक्रिया मे अकुर बनकर फूटा हुआ बीज तब तक अधूरा है, जब तक वह अपनी और मिट्टी की शक्तियो का समन्वय करके अनेक हरे दलो और रगीन फूलो मे फैल नही जाता, उसी प्रकार जीवन के विकासोन्मुख निर्माण मे व्यापक न होकर केवल प्रतिक्रियात्मक ध्वस मे सीमित रहनेवाली कला अपूर्ण है।

इस सम्बन्ध मे एक प्रश्न तो किया ही जा सकता है। यदि हम केवल लक्ष्य पर दृष्टि न रखे तो लक्ष्यभेद कैसे हो? उत्तर सहज और स्पष्ट है। जीवन केवल लक्ष्यभेद ही नही, लक्ष्य का स्थापन भी तो है। कलाएँ ही नही जीवन की स्थूलतम आवश्यकताएँ भी मत्स्य की आँख को बाण की नोक

में छेद लेने के समान नही कही जा सकती। भाजन के एक ग्रास की इच्छा भी इधन पानी में लेकर के शरीर के रस तक किस प्रकार फली है, कौन नही जानता !

मनुष्य यत्र मात्र नही है (आज तो यत्रो के कलपुर्जे भी न सब के लिए स्पष्ट हैं, न रहस्य से शून्य) कि उसका सम्पूर्ण बाह्य और अतजगत कुछ स्थिर नियमो से सचालित हो सके। बाह्य जीवन को तो विधिनिषेध किसी अश तक बाँध भी सकते हैं परन्तु अन्तजगत् अपनी सूक्ष्मता के कारण उनकी परिधि से परे ही रहेगा। हमारा कोइ भी स्वप्न किसी प्रकार की भी कल्पना, कैसी भी इच्छा जब तक स्थूल साकारता नही ग्रहण करती तब तक बाह्य ससार के निकट उसका अस्तित्व नही है। परन्तु हमारे अन्तजगत मे तो उसकी स्थिति रहेगी ही और इस प्रकार वह रोग के कीटाणुओ के समान उपचारहीन क्षय भी करती रह सकती है और जीवनरस के समान स्फूर्ति का कारण भी बन सकती है। हमारे अन्तजगत् मे पनी हुई विषम भावना विकृत कल्पना आदि के परिणाम मे, प्रकट स्थूल रूप रेखा की कमी हो सकती है परन्तु जीवन को जर्जरित कर देनेवाली शक्ति का अभाव नही होता, इस सत्य को हम स्वीकार करना ही होगा।

राजनीति और समाज के विधान हमारे इस सूक्ष्म जीवन को बाँध नही पाते। स्थूल धर्म और सूक्ष्म अध्यात्म भी इस काय मे प्राय असमर्थ ही प्रमाणित होते रहे हैं क्योकि पहला तो राजनीति के समाज विधान को ही पग्नाट मे प्रतिष्ठित कर आता है और दूसरा सत्य को सौन्दर्यरहित कर देने के कारण केवल बुद्धिग्राह्य बनकर हृदय के लिए अपरिचित हो जाता है।

इस सम्बन्ध मे एक बात और ध्यान देने योग्य है। जिस प्रकार बाह्य शारीरिक कुरूपता मनुष्य के सौन्दर्यबोध को कुण्ठित नही कर देता प्रत्युत् कभी कभी और अधिक तीव्रता दे देती है उसी प्रकार उसके बाह्य या अन्तजगत् की अपूर्णता उस पूर्णता का सौन्दर्य देखने से नही रोकती। ऐसा कुत्सित मनुष्य मिलना कठिन होगा जिसके अन्तजगत् मे पूर्णता की प्रत्यक्ष रेखा मिट गयी हो सामजस्य के आदर्श के सब रग धुल गये हो। साधारणत घोर मिथ्यावादी भी सत्य का सबसे अधिक सम्मान देता है। मलिनतम व्यक्ति भी पवित्रता का सबसे अधिक मूल्य निश्चित करता है। मनुष्य ससार के सामने ही नही हृदय के एकान्त कोने मे भी यह नही स्वीकार करना चाहता कि वह मिथ्या के लिए ही मिथ्यावादी है मलिनता के प्रेम के कारण ही मलिन है। प्राय वह सब व्यक्तिगत अपूर्णताओ और विषमताओ का भार परिस्थितियो पर डालकर,

अन्तर्जगत् मे प्रतिष्ठित किसी पूर्णता और सामजस्य की प्रतिमा के निकट अपने-आपको क्षम्य सिद्ध कर लेता है।

यह अपूर्णता से पूर्णता, यथार्थ से आदर्श और भौतिकता से सूक्ष्म तत्त्वों तक विस्तृत जीवन, काव्य और कलाओ की उसी परिधि से घिर सकता है जो सौन्दर्य की विविधता से लेकर सत्य की असीम एकरूपता तक फैली हुई हे।

विशेप रूप से काव्य तो हमारे अन्तर्जगत् के सूक्ष्म तत्त्वो को, देशकाल से सीमित जीवन की स्थूल रूप-रेखा मे इस प्रकार ढाल देता है कि वे हमारे लिए एक परिचयभरी नवीनता वन जाते हैं। उसका सस्पर्श तो वहुत कुछ वैसा ही है, जैसा दूरागत रागिनी का, जिसकी लहरे विना आहट के ही हमारे हृदय को पुलक-कम्प से भर देती है, पर हमारे वाह्य-जीवन मे ढला उसका रूप किसी प्रकार भी अशरीरी नही जान पड़ता।

काव्य का देश-काल से नियन्त्रित रूप विभिन्नता से शून्य नही हो सकता, परन्तु उसमे व्यक्त जीवन की मूल प्रवृत्तियाँ परिष्कृत से परिष्कृत होती रहती हैं, वदलती नही। उनका विकास कली का वह विकास है, जो पखडियो को पुष्ट और रग को गहरा कर सकता है, गन्ध को व्यापकता और मधु को भारीपन दे सकता हे, जीवन को पूर्णता और सौन्दर्य को सजीवता प्रदान कर सकता है, परन्तु कली को न तितली वनाने मे समर्थ है, न गुबरीला।

जीवन की इसी विविधता और एकता की अभिव्यक्ति के लिए काव्य ने यथार्थ और आदर्शवाद की, रूप मे भिन्न पर प्रेरणा मे एक, शैलियाँ अपनाई है। जीवन प्रत्यक्ष जैसा है और हमारी परिपूर्ण कल्पना मे जैसा है, यही हमारा यथार्थ और आदर्श है और इस रूप मे तो वे दोनो, जीवन के उतने ही दूर पास है, जितने जल की आर्द्रता से मिले रहने के कारण एक और उसे मर्यादित रखने के लिए भिन्न, नदी के दो तट। उनमे से केवल एक से जीवन को घेरने का प्रयास, प्रयास ही वनकर रह सकता है, उसे सफलता की सज्ञा देना कठिन होगा।

किसी भी युग मे आदर्श और यथार्थ या स्वप्न और सत्य, कुरुक्षेत्र के उन दो विरोधी पक्षो मे परिवर्तित करके नही खड़े किये जा सकते, जिनमे से एक युद्ध की आग मे जल गया और दूसरे को पश्चात्ताप के हिम मे गल जाना पडा। वे एक दूसरे के पूरक रह कर ही जीवन को पूर्णता दे सकते हैं, अत· काव्य उन्हे विरोधियो की भूमिका देकर जीवन मे एक नयी विपमता उपत्न्न कर सकता है, सामञ्जस्य नही। न यथार्थ का कठोरतम अनुशासन आदर्श के सूक्ष्म चित्राधार पर कालिमा फेर सकता है, और न आदर्श का पूर्णतम विधान यथार्थ को शून्य आकाश वना सकता हे।

जहाँ तक स्वप्न और सत्य का प्रश्न है, हमारे विकास क्रम ने उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं रहने दिया क्योंकि एक युग का स्वप्न दूसरे युग का सत्य बनता ही आया है। पाषाण-युग के वीर के लिए महाभारत के अग्निवाण स्वप्न ही रहे होंगे, कन्दरा में रहनेवाले मानव ने गगनचुम्बी प्रासादों की कल्पना को स्वप्न ही माना होगा और आदिम युग के स्त्री पुरुष ने एक पति व्रत और एक पत्नी व्रत का स्वप्न ही देखा होगा। हमारे युग की अनेक वैज्ञानिक सुविधाएँ पिछले युग के लिए स्वप्नमात्र थी इसे कौन अस्वीकार कर सकता है।

जब एक युग अपनी पूर्णता और सामञ्जस्य के स्वप्न को इतनी स्पष्ट रेखाओं और इतने सजीव रंगों में अंकित कर जाता है कि आनेवाला युग उसे अपनी सृजनात्मक प्रेरणा से सत्य बना सके और जब आगत युग उस निर्माण से भी भव्यतम निर्माण का स्वप्न भावी युग के लिए छोड़ जाने की शक्ति रखता है, तब जीवन का विकास निश्चित है।

इसी क्रम से स्वप्नों को सत्य बनाते-बनाते हमारे समाज, संस्कृति, कला, साहित्य आदि का विकास हुआ है। हमारी चेतना में चेतन परमाणुओं का जैसा समन्वय है, हमारे शरीर में जड़ द्रव्य का जैसा विकासमय सन्तुलन है और हमारी सभ्यता की व्यापकता में हमारे हृदय और मस्तिष्क की वृत्तियों के साथ कार्यों का जैसा सामञ्जस्य है वह ऐसी स्थिति में सम्भव नहीं हो सकता था जिसमें आगत युग प्रत्येक साँस में अपने अपूर्णतम यथार्थ के भी चिरस्थायी होने के शकुन मनाता और पिछले युग के पूर्णतम स्वप्न की भी मृत्यु-कामना करना आरम्भ कर देता है।

देश-काल के अनुसार अनेक विभिन्नताओं के साथ भी नये युग की यात्रा वहीं से आरम्भ होगी जहाँ पिछले युग की समाप्त हुई थी। विकास-पथ में, पार्श्व मार्ग से लौटकर फिर अन्तिम छोर से यात्रा आरम्भ करना सम्भव नहीं हो सकता इसीसे पूर्ण स्वप्न के दान और उसके सृजनात्मक आदान का विशेष मूल्य है।

यह सत्य है कि विकास क्रम में विषमताएँ भी उत्पन्न होंगी और प्रतिक्रियाओं का भी आविर्भाव होता रहेगा। परन्तु उनका उपयोग इतना ही है कि वे हमें दृष्टि के पुञ्जीभूत धुँधलेपन के प्रति सजग कर दें, क्षितिज की अस्पष्टता के प्रति सतर्क बना दें और विराम-सूत्र की सूक्ष्मता के प्रति जागरूकता दें। जहाँ तक प्रतिक्रिया का प्रश्न है उसका आधार जितना अधिक जड़ भौतिक होता है, ध्वंस में उतना ही वेग और उतना और सृजन में उतना ही शिथिलता मिलती है। नाश तो ताप बढ़ने पर गिरकर खँडहर मात्र रह जायगा परन्तु टूटा ढूँढा पर

मूल-शेष वृक्ष असख्य शाखा-उपशाखाओ मे लहलहा उठेगा।

काव्य मे वही क्रिया-प्रतिक्रिया अपेक्षित है, जिसमे प्रत्येक ध्वस अनेक सृजनात्मक रूपो को जन्म देता चलता है। उसका परिवर्तन-क्रम शोधे हुए सखिये के समान मारक शक्तियो को ही जीवनदायिनी बना देता है, इसी से हमारे बाह्य परिवर्तन से वह लक्ष्यत: एक होकर भी प्रयोगत भिन्न ही रहा है। क्रूरतम परिस्थितियो और विषमतम वातावरण मे भी कलाकारो की साधना का राजमार्ग एक ही रहता है।

हमारे प्रत्येक निर्माण-युग की कलाएँ स्वप्न और सत्य, आदर्श और यथार्थ के बाह्य अन्तर को पार कर उनकी मूलगत अन्योऽन्याश्रित स्थिति को पहचानती रही हैं। इसी विशेषता के कारण, बहिरंग सौन्दर्य मे पूर्ण ग्रीक मूर्त्तियो से भिन्न, हमारी विशाल मूर्त्तियाँ अपनी गुरु, कठोर और स्थूल मुद्राओ मे सूक्ष्मतम रहस्य के वायवी सकेत छिपाये बैठी है। इसी गुण से, हम धूलि की व्यथा कहकर आकाश मे मेघो को घेरलाने वाली रागिनी और अन्तरिक्ष के अन्धकार को वाणी देकर पृथ्वी के दीपक जला देनेवाले राग की सृष्टि कर सके है। इसी सहज प्रवृत्ति से प्रेरित हमारा नृत्य केवल वासनाजनित चेष्टाओ मे सीमित न होकर जीवन की शाश्वत् लय को रूप देता रहा हे और चित्रकला नारी रूपो को सौन्दर्य और शक्ति के व्यापक सिद्धान्त की गरिमा से भूषित कर सकी है। इसी चेतना से अनुप्राणित हमारे काव्य सत् से चित् और चित् से आनन्द तक पहुँचते तथा सुन्दर से शिव और शिव से सत्य को प्राप्त करते रहे हैं।

जिन युगो मे हमारी यथार्थ-दृष्टि को स्वप्न-सृष्टि से आकार मिला है और स्वप्न-दृष्टि को यथार्थ-सृष्टि से सजीवता, उन्ही युगो मे हमारा सृजनात्मक विकास सम्भव हो सका है। ध्वसात्मक अन्धकार के युगो मे या तो वायवी और निष्प्राण आदर्श का महाशून्य हमारी दृष्टि को दिग्भ्रान्त करता रहा है या विषम और खण्डित यथार्थ के नीचे गर्त्त तथा ऊँचे टीले हमारे पैरो को बाँधते रहे है।

स्थूल उदाहरण के लिए हम रामायण और महाभारत-काल की परिणामत: भिन्न यथार्थ-दृष्टियो को ले सकते हे। परिस्थितियों की दृष्टि से, कर्त्तव्य-परायण और लोकप्रिय युवराज का, अभिषेक के मुहूर्त मे अकारण निर्वासन, द्यूत मे हारे हुए पाण्डवो के निर्वासन से बहुत अधिक क्रूर है। एक ओर पांच पतियो और दूसरी ओर गुरुजन-परिजन से घिरी हुई अपमानित राजरानी की स्थिति से, सुदूर शत्रुपुरी मे बर्बरो के बीच मे बैठी हुई सहायहीन और एकाकिनी राज-तपस्विनी की स्थिति अधिक भयोत्पादक है। उत्तर भारत की आधी

राजनीतिक क्रिया और उस क्रांति के सूत्रधार रो लकर युद्ध करनेवाले योद्धाओं के कार्य से उस निर्वासित वीर का काम अधिक दुष्कर जान पड़ता है जिसे विजातियों की सीमित सेना लेकर विदेश में, व्यक्तिगत रूप से ही नहीं उस युग के सबसे शक्तिशाली उत्पीड़क का सामना करना पड़ा।

पर दोनों संघर्षों के परिणाम कितने भिन्न हैं! एक के अन्त में मानो संस्कृति की प्रवाहिनी उत्तर से दक्षिण-सीमान्त तक पहुंच जाती है। हमारे चरित्र का स्वर्ण परीक्षित हो चुकता है और हमारे सौन्दर्य शक्ति और शील के आदर्श जीवन में प्रतिष्ठा पाकर, उस हिमालय के समान सहस्र-सहस्र धाराओं में गतिशील पर मूल में अचल दिखाई देते हैं।

दूसरी क्रान्ति के अन्त में अन्यायी और अन्याय से जूझनेवाले दोनों जूझ मरते हैं और इतना बड़ा संघर्ष कुछ भी सृजन न करके आगामी युग के लिए सीमाहीन मरु और उसके शून्य में मँडराता हाहाकार मात्र छोड़ जाता है। संग्रामभूमि में एक ओर न्यायपक्ष का कातर वीर इतना असमर्थ है कि निष्काम कर्म की बैसाखी के बिना खड़ा ही नहीं हो सकता और दूसरी ओर भीष्म जैसे योद्धा ऐसे विरक्त हैं कि दिन भर शीत सैनिकों के समान युद्ध कर रात में विपक्ष को अपनी मृत्यु के उपाय बताते रहते हैं। एक जानता है कि प्रतिपक्षी का नाश हो जाने पर उस महाशून्य में उसका दम घुट जायगा और दूसरा मानता है कि उस दुर्वह जीवन से मृत्यु अच्छा है। इन विषमताओं का कारण ढूंढ़ने दूर न जाना होगा। रामायण काल के यथार्थ के पीछे जो सामंजस्यपूर्ण निर्माण का आदर्श था वही जीवन को सब अग्नि-परीक्षाओं से अक्षत निकाल लाया पर महाभारत काल की व्यक्तिगत विरोधों में खण्डित और अकेली यथार्थ दृष्टि कोई सृजनात्मक आदर्श नहीं पा सकी जिसके सहारे उसका न्यायपक्ष उस ध्वंसयुग के पार पहुँच पाता।

हमारे अन्य विकासशील काव्य-युगों में भी ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं। जिन यथार्थ-दर्शियों ने बीहड़ वनों में मार्ग बनाने निर्जनों को बसाने और स्थूल जीवन की अन्न से लेकर बीज तक असंख्यातीत समस्याएँ सुलझाने का मूल्य समझा, वे ही प्रकृति और जीवन में समान रूप से व्याप्त सौन्दर्य और शक्ति की भावना कर सके, ज्ञान की सूक्ष्म असीमता के मापदण्ड दे सके और अध्यात्म की अरूप व्यापकता को नाम रूप देकर अखण्ड जीवन के अमर द्रष्टा बन सके। मर्यादा पुरुषोत्तम के चरित्र में भी जिसकी यथार्थ दृष्टि भ्रान्त न हो सकी, उसी कवि मनीषी के सामंजस्य का आदर्श क्रौंच पक्षी की व्यथा की थाह लेकर हमें प्रथम श्लोक और आदिकाव्य दे गया है।

हिन्दी का अमर-काव्य भी आदर्श की सीमाओ मे यथार्थ का और यथार्थ के रगो मे आदर्श का जैसा विशाल चित्र अकित कर गया है, उसमे अमिट रूप-रेखाएँ ही नही, जीवन का शाश्वत् स्पन्दन भी हे। मन्दिर-मसजिद की स्थूलता से लेकर अन्धविश्वास की आडम्वर पूर्ण विविधता तक पहुँचने वाली कवीर की उग्र यथार्थ-दृष्टि, कठोर यथार्थदर्शी को भी विस्मित कर देगी, परन्तु विपम खण्डो मे उलझी हुई यही यथार्थ-दृष्टि, विना गुणो का सहारा लिये, विना रूप-रेखा पर विश्राम किये, अखण्ड अध्यात्म की असीमता नाप लेने की शक्ति रखती है। इसी से जुलाहे के ताने-वाने पर वुने गीत धरती के व्यक्त और दर्शन के गहन अव्यक्त को समान अधिकार दे सके है। तुलसी जैसे अध्यात्म-निष्ठ आदर्शवादी ने जीवन की जितनी परिस्थितियो की उद्भावना की है, जितनी मनोवृत्तियो से साक्षात् किया है, स्थूलतम उलझनो और सूक्ष्मतम समस्याओ का जैसा समाधान दिया हे और अध्यात्म को यथार्थ के जैसे दृढ वन्धन मे वाँधा है, वैसा किसी और से सम्भव न हो सका। क्रूर नियति ने जिसके निकट यथार्थ जगत् का नाम अन्धकार कर दिया था, उसी सूर से सूक्ष्मतम भावनाओ, कोमलतम अनुभूतियो और मिलन-विरह की मार्मिक परिस्थितियो का सवसे अधिक सजीव और नैसर्गिक चित्रण हुआ है। अमर प्रेम की स्वप्नदर्शिनी मीरा के हाथ मे ही यथार्थ का विप अमृत वन सका है।

जव हमने आदर्श को अमूर्त और यथार्थ को एकागी कर लिया, तव एक वौद्धिक उलझनो और निर्जीव सिद्धान्तो मे विखरने लगा और दूसरा पाशविक वृत्तियो की अस्वस्थ प्यास मे सीमित होकर घिरे जल के समान दूपित हो चला। एक ओर हम यह भूल गये कि आदर्श की रेखाएँ कल्पना के सुनहले-रुपहले रगो से तव तक नही भरी जा सकती, जव तक उन्हे जीवन के स्पन्दन से न भर दिया जावे और दूसरी ओर हमे यह स्मरण नही रहा कि यथार्थ की तीव्र धारा को दिशा देने के पहले उसे आदर्श के कूलो का सहारा देना आवश्यक है। फलत. हमारे समग्र जीवन मे जो ध्वस का युग आया, उसे विदा देना उत्तरोत्तर कठिन होता गया। सत्य तो यह है कि सैनिक-युग, न वीते कल को सम्पूर्णता मे देख सकता हे और न आगामी कल के सम्वन्ध मे कोई कल्पना कर सकता है, क्योकि एक उसकी जय-पराजय की भूली कथा मे समाप्त है और दूसरा युद्ध की उत्तेजना मे सीमित। और यदि सैनिक-युग के पीछे पराजय की स्मृतियाँ और आगे निराशा का अन्धकार हो, तव तो उसके निकट जीवन और वस्तुजगत् के मान ही वदल जाते है।

दुख के सीमातीत हो जाने पर या तो ऐसी स्थिति सम्भव है, जिसमे मनुष्य

दु ख से बहुत ऊपर उठकर निर्माण के नये साधन खोजता है, या ऐसी, जिसमे वह अपने आपको भूलने के लिए और कभी कभी तो नष्ट करने के लिए किसी प्रकार के भी उपाय का स्वागत करता है। हमारा सुदीर्घ रीतियुग दूसरी आत्म घाती प्रवृत्ति का सजीव उदाहरण है। *संस्कृत काव्य के उत्तरार्द्ध मे भी यही* सर्वग्रामिनी प्रवृत्ति मिलेगी, जिसने काव्य ही नही सम्पूर्ण कलाओ पर 'इति' की मुद्रा अकित कर हमारी जीवनशक्ति के अन्त की सूचना दी। अन्य उन्नत जातियो के निर्वाण-युग की कलाएँ भी इसका अपवाद नही क्योकि जीवन का वह नियम जिसके अनुसार बडे से बडे राजकुमार को भी घुट्टी मे हीरा पीस कर नही पिलाया जा सकता सबके लिए समान रहा है और रहेगा।

जो नारी माता, भगिनी पत्नी पुत्री आदि के अनेक सम्बन्धो से वात्सल्य, ममता, स्नेह आदि असख्य भावनाओ से तथा कोमल-कठोर साधनाओ की विविधता मे, पुरुष को भूमिष्ठ होने से चिताारोहण तक घेर रहती है और मृत्यु के उपरान्त भी उसे स्मृति मे जीवित रखने के लिए उग्रतम तपस्या से नही हिचकती, उससे सत्य यथार्थ और उससे सजीव आदर्श पुरुष को कहाँ मिलेगा? उससे पुरुष की वासना का वह सम्बन्ध भी है जो पशु जगत् के लिए भी सामान्य है। परन्तु मानवी ने पशु-जगत् की साधारण प्रवृत्ति से बहुत ऊपर उठकर ही पुरुष को आज्ञाकारी पुत्र अधिकारी पिता विश्वासी भाई और स्नेही पति के रूपो मे प्रतिष्ठित किया है। इसी से निर्माण युग का क्रूर भी प्रकृति के समान ही अनेक रूपिणी मातृजाति के वरदानो के सामने नतमस्तक हो सका और उसका कृतज्ञ हृदय भौतिक ऐश्वर्य से लेकर दिव्य ज्ञान तक का नामकरण करते समय नारीमूर्त्ति का स्मरण करता रहा।

जब पुरुष ने सौन्दर्य और शक्ति के इसी यथार्थ को विकलाग और जीवन के इसी आदर्श को खण्डित बना उसे अपने मदिरा के पात्र मे नाप लेने का स्वाँग करते हुए आश्वस्त भाव से कहा—बस नारी तो इतनी ही है तब उसने अपनी बुद्धि की पगुता और हृदय की जडता की ही घोषणा की।

क्रमश हमारे सामगान का वशज सगीत हमारी अर्चना मे उत्पन्न नृत्य—सब उस समाज विशेष की पैतृक सम्पत्ति बन गये जिसे केवल वासना की पूँजी से व्यापार करने का क्रूर कर्त्तव्य स्वीकार करना पडा।

सौन्दर्य के तारो मे नृत्य की झकार उत्पन्न करनेवाले कवि उस सामन्तवर्ग के लिए विलास का खाद्य प्रस्तुत करने लगे जो अजीर्ण से पीडित था इसी से स्त्री नाम के पक्वान्न को अनेक आकर्षक रूपो मे उपस्थित करना आवश्यक हो उठा।

रसो के असीम विस्तार और अतल गहराई मे कवि को निम्न वासना

के घोघे ही मिल सके और प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य की चिरन्तन सजीवता मे पाशविक वृत्तियो के निर्जीव उद्दीपन ही प्राप्त हुए। क्या इस प्रवृत्ति मे यथार्थता नही? अवश्य ही है। अमृत सम्भाव्य हो सकता है, पर विप तो निश्चित यथार्थ ही रहेगा। एक हमारे स्वप्नो का विपय वनता है, कल्पना का आधार रहता हे, खोज का लक्ष्य हो जाता है, फिर भी सहज प्राप्त नही; और दूसरा प्रत्येक स्थान और प्रत्येक स्थिति मे प्राप्त होकर भी हमारे भय का कारण है, नाश का आकार है और मृत्यु की छाया है। एक को हम महान् मूल्य देकर भी पाना चाहते हैं और दूसरा मूल्यहीन भी हमे स्वीकार नही।

एक सम्भाव्य आदर्श, एक निश्चित यथार्थ से, एक मूल्यवान् स्वप्न एक वेदाम स्थूल से अधिक महत्त्व क्यो रखता है? केवल इसलिए कि एक हमे जीवन का अनन्त आरम्भ दे सकता है, और दूसरा मृत्यु का सान्त परिणाम। इस सत्य को यदि हम तत्त्वत. समझ सके तो रीति युग की वासना का यथार्थ हमारे लिए नवीन उलझनो की सृष्टि न कर सकेगा। उस युग के पास यथार्थ-दृष्टि नही, यह कहना सत्य नहीं हो सकता; परन्तु वह दृष्टि कठफोडे की पैनी चोच जैसी है, जो कठिन काठ को भी कुरेद-कुरेद उसमे छिपे कीडे को तो उदरस्थ कर लेती हे, पर उस काठ से उत्पन्न हरे पत्तो से निर्लिप्त, फूल से उदासीन और फल से विरक्त रहती है। वृक्ष का अनेकरूपी वैभव न उसे भ्रमर के समान गुजन की प्रेरणा देता है, न कोकिला के समान तान लेना सिखाता है और न मधुमक्षिका के समान परिश्रम की शक्ति प्रदान करता है।

विकाम-क्रम मे पशुता हमारा जन्माधिकार हे और मनुष्यता हमारे युग-युगान्तर के अनवरत अध्यवसाय से अर्जित अमूल्य निधि; इसी से हम अपने पूर्ण स्वप्न के लिए, सामजस्यपूर्ण आदर्श के लिए और उदात्त भावनाओ के लिए प्राण की वाजी लगाते रहे है। जव हममे ऐसा करने की शक्ति शेप नही रहती, तव हम एक मिथ्या दम्भ के साथ पशुता की ओर लौट चलते है, क्योकि वहाँ पहुँचने के लिए न किसी पराक्रम की आवश्यकता है और न साधन की।

हम अपने शरीर को निश्चेष्ट छोडकर हिमालय के शिखर से पाताल की गहराई तक सहज ही लुढकते चले आ सकते हैं, परन्तु उस ऊँचाई के सहस्र अशो मे से एक तक पहुँचने मे हमारे पाँव काँपने लगेगे, साँस फूल उठेगी और आँखो के सामने अँधेरा छा-छा जायगा।

उस युग के सामने राजनीतिक पराजय, सामाजिक विशृखलता और सास्कृतिक ध्वस का जो कुहरा था, उसे भेदकर जव कलाकार यथार्थ की यथार्थता भी न देख सके, तव उससे निर्माण के आदर्श और विकास के स्वप्न

की आशा करना बालू के कणों से रस की आशा करना होगा। जो विराग की सूक्ष्म रेखाओं में बंधे और सम्प्रदायों की स्थूल प्राचीरों से घिरे थे, उन्होंने भी अपने युग की अस्वस्थ प्यास ही को दूसरे नाम रूप देकर धर्म-सम्मत बना लिया और जिन पर मधुप में लगे आश्रयदाताओं को उत्तेजित करने का भार था उनकी दृष्टि सामयिक संकीर्णता से लेकर पक्ष के गुण और विपक्ष के दुर्गुण की अतिरंजना में सीमित और एकरस हो गयी। इस प्रकार आदर्श से विच्छिन्न और यथार्थ से विकलांग काव्य और कलाएँ पिघलते हुए बर्फ की अघोर शिला के समान अपने विद्युत वेग में ध्वंस लिए हुए, नीचे ही उतरती चली आयी। जहाँ उनकी गति रुकी, वहाँ आँख मलकर हमने अपने सामने एक धुंधला क्षितिज और अपने चारों ओर एक विषम भूखण्ड पाया।

आदर्श जीवन के निरपेक्ष सत्य का बालक है और यथार्थ जीवन की सापेक्ष सीमा का जनक, अतः उनका अन्योऽन्याश्रित स्थिति न ऊपर से कभी प्रकट हो सकती है और न भीतर से कभी मिट सकती है। उनकी गति विपरीत दिशोन्मुखी होकर भी जीवन की परिधि को दो ओर से स्पर्श करने का एक लक्ष्य रखती है।

यथार्थ को जैसे जैसे हम देखते जाते हैं वैसे वैसे उसकी त्रुटियों को हमारी कल्पना की रेखाएँ पूर्ण करती चलती हैं, इसी से अन्त में हम उसकी विषमता पर खिन्न और सामंजस्य पर प्रसन्न होते हैं। उदाहरण के लिए हम एक चित्र को ले सकते हैं। उसमें एक बालक रंग के धब्बे ही देखेगा, साधारण व्यक्ति रंग के साथ आकार भी देख सकेगा, सहृदय कलाप्रेमी रंग, रेखा आदि में व्यक्त सामंजस्य या विषमता का भी अनुभव करेगा। यथार्थ से उसके मूलगत आदर्श तक पहुँचने का यह क्रम मनुष्य की सामंजस्यमूलक भावना के विकसित रूप पर निर्भर रहता है। यथार्थ की त्रुटि जानने का अर्थ यही है कि हमारे पास उस त्रुटि से ऊपर का चित्र है इसी से यथार्थ का वैषम्य उन्हें नहीं ज्ञात होता, जिनके पास सामंजस्य की भावना का अभाव रहता है। रेखागणित के समान यथार्थ का ज्ञान लेना ही हमें उसके निकट परिचय का अधिकारी नहीं बना सकता क्योंकि जब तक हम उन तारों से अपने सामंजस्य का स्वर नहीं निकाल लेते वह यथार्थ और हमारे जीवन का यथार्थ, जोड़ फल के साथ रखे हुए गणित के अंकों जैसे ही कुंठित बने रहते हैं। यथार्थ यथार्थ से एक नहीं होता, अन्यथा हमारे घरों के खम्भे सहचर हो जाते और वृक्ष सहोदर बन जाते। एक यथार्थ दूसरी सामंजस्य भावना का स्पर्श करके ही अपना परिचय देने में समर्थ होता

पाता है और यह भावना जिसमे जिस अश तक अधिक है, वह उसी अश तक यथार्थ का उपासक है।

आदर्श का क्रम इससे विपरीत होगा, क्योंकि उसमे व्यक्त सामजस्य की प्रत्येक रेखा हमे यथार्थ के सामजस्य या विपमता की स्मृति दिलाती चलती है; इसी से यथार्थ ज्ञान से शून्य वालक के निकट किसी आदर्श का कोई मूल्य नही हो सकता। यदि किसी कारण से हम कल तक का उपार्जित यथार्थ-ज्ञान भूल जावे, तो आज हमारे आदर्श का चित्रपट भी शून्य होगा। इस तरह जीवन मे वह यथार्थ, जिसके पास आदर्श का स्पन्दन नही, केवल शव है और वह आदर्श, जिसके पास यथार्थ का शरीर नही, प्रेत मात्र है।

साधारण रूप से हमारी धारणा वन गयी है कि यथार्थ के चित्रण के लिए हमे कुछ नही चाहिए, परन्तु अनुभव की कसौटी पर वह कितनी खरी उतर सकती है, यह कथन से अधिक अनुभव की वस्तु है। आदर्श का सत्य निरपेक्ष है, परन्तु यथार्थ की सीमा के लिए सापेक्षता आवश्यक ही नही अनिवार्य रहेगी, इसी से एक की भावना जितनी कठिन है, दूसरे की अभिव्यक्ति उससे कम नही। आदर्श का भावन मनुष्य के हृदय और बुद्धि के परिष्कार पर निर्भर होने के कारण सहज नही, परन्तु एक वार भावन हो जाने पर उसकी अभिव्यक्ति यथार्थ के समान कठिन वन्धन नही स्वीकार करती। पूर्ण और सुन्दर स्वप्न देख लेना किसी असुन्दर हृदय और विकृत मस्तिष्क के लिए सहज सम्भाव्य नही रहता, पर जव हृदय और मस्तिष्क की स्थिति ने इसे सहज कर दिया, तव केवल अभिव्यक्ति-सम्वन्धी प्रश्न उसे व्यक्त होने से नही रोक पाते। विश्व के स्थूल से सूक्ष्मतम अनेक रूपको के भरोसे, भापा की कोमल से कठोर तक असख्य रेखाओ की सहायता से और भावो के हल्के से गहरे तक असख्य रगो के सहारे, वह वार-वार व्यवत होकर सुन्दर से सुन्दरतम, पूर्ण से पूर्णतम होता रह सकता है। आदर्श के सम्वन्ध मे अभिव्यक्ति की समस्या नही, परन्तु अभिव्यक्ति के ग्रहण का प्रश्न रहता है; क्योंकि व्यवत होते ही वह यथार्थ की परिधि मे आ जाता है और इस रूप मे, उसे अपना पूर्ण परिचय देने के लिए, दूसरे की सामजस्य-भावना की अपेक्षा होगी।

जैसे वीणा के एक तार से उँगली का स्पर्श होते ही, दूसरे का अपने आप कम्पन से भर जाना, उनके खिंचे-मिले रहने पर सहज और स्वाभाविक है, उसी प्रकार एक व्यक्त आदर्श की अव्यक्त प्रतिध्वनि अनुकूल सवेदनीयता मे आयास-हीन होती है।

यथार्थ की समस्या कुछ दूसरे प्रकार की है, क्योंकि जो व्यवत और स्थूल

है, उसे खण्डश देख लेना कठिन नहीं, पर उन खण्डों में व्याप्त अखण्डता की भावना सहज प्राप्य नहीं। जीवन खण्ड खण्ड में बिखरा, देश काल में बटा और रूप-व्यष्टि में ढला है, परन्तु उसके एक खण्ड का मूल्य इसलिए है कि वह अखण्ड पीठिका पर स्थित है, उसकी सीमा का महत्व इसलिए है कि वह सीमातीत आधार भित्ति पर अंकित है और उसके एक रूप का अस्तित्व इसलिए है कि वह अरूप की व्यापक समष्टि में ढला है। यदि हम एक सीमित खण्ड को पूर्ण रूप से घेर भी लें, तो जब तक उसे व्याप्त जीवन की व्यापक पीठिका पर शेष खण्डों के साथ रखकर नहीं देखते, तब तक उसके कभी न घटने बढ़ने वाले मूल्य का पता नहीं चलता और जब तक हमें इस मूल्य की अनुभूति नहीं होती, तब तक उससे हमारा परिचयजनित तादात्म्य संभव नहीं हो पाता।

हमारे शरीर की पूर्णता के ही लिए नहीं, उपयोग के लिए भी आवश्यक अंगों का शरीर से भिन्न कोई मूल्य नहीं, कोई महत्त्व नहीं और कोई जीवन नहीं। भावी चिकित्सक का ज्ञान बढ़ाने के लिए चीर फाड़ के काम में आनेवाले शरीर के अंग उसका ज्ञान बढ़ाकर स्वयं सजीव नहीं हो जाते।

कला को चाहे प्राकृतिक चिकित्सा भी कह लिया जावे, पर वह ऐसा शल्य-चिकित्सा शास्त्र कभी नहीं बन सकती, जिसके जिज्ञासुओं के उपयोग के लिए, निर्जीव यथार्थ-खण्ड संवेदन शून्यता के हिम में गाड़ गाड़कर सुरक्षित रक्खे जावें। कला के यथार्थ को सजीव तो रहना ही है, साथ ही जीवन की अशेष विशालता में अपने अधिकार का परिचय देते हुए निरंतर पाना और अविराम देना है। अतः उसकी सीमित स्थूल रेखा से लेकर सामान्य नियम तक सब अपने पीछे एक व्यापक सामंजस्य की भावना चाहते हैं। इस प्रकार यथार्थ का प्रत्येक खण्ड जीवन, अखण्ड जीवन के आदर्श पर आश्रित हुए बिना खण्ड ही नहीं रह सकता।

उदाहरण के लिए हम एक चतुर यथार्थ शिल्पी द्वारा निर्मित कृश दीन और अर्धनग्न भिखारी की मूर्ति को ले सकते हैं। अपनी संसारयात्रा में हमने ऐसे अनेक विरूप खण्ड देखे हैं, जिनके निकट ठहरने की, हमारे व्यस्त जीवन को इच्छा ही नहीं हुई। पर उस मूर्ति से साक्षात होते ही हमारा जीवन अपने सम्पूर्ण आवेग से उसे घेर घेरकर उसी प्रकार आर्द्र करने लगेगा, जिस प्रकार तीव्र गति वाला जलप्रवाह अपने पथ में पड़े हुए शिलाखण्ड की प्रदक्षिणा कर करके उसे अपने सीकरों से अभिषिक्त करने लगता है। हमारा हृदय कहेगा—यह मेरा है! हमारी सांस पूछेगी—इतना अंतर किसलिए? हमारी बुद्धि प्रश्न करेगी—ऐसा दैन्य क्यों? इस अंतर का कारण स्पष्ट है। कलाकार ने जब

उस खण्ड-विशेप को जीवन की अखण्ड पीठिका पर प्रतिष्ठित और सामजस्य की व्यापक आधारभित्ति पर अकित करके हमारे सामने उपस्थित किया, तव वह अपने स्थायी मूल्य और अविच्छिन्न सम्वन्ध के साथ हमारे निकट आया और उस रूप मे हमारे जीवन का सत्य उसकी उपेक्षा नही कर सका ।

जीवन-पथ पर ककड-पत्थर के समान विखरे और खण्डित यथार्थ को हम जो आत्मीयता नही देते, उसी को अयाचित दिलाने के लिए यथार्थ-वादिनी कलाएँ उन परिचित और उपेक्षित खण्डो को एक अखण्ड भावना के रहस्यमय अचल मे वटोर लेती हैं । जव कला, जीवन की व्यापकता का भावन विना किये मनुष्य, पशु-पक्षी आदि के, केमरे से खिचे चित्रो को पास-पास चिपकाकर ही अपने चित्राधार को विराट् वनाना चाहती है, तव वह रेखाओ के जितने निकट आ जाती है, जीवन से उतनी ही दूर पहुँच जाती है ।

आदर्श व्यक्ति-विशेप की अखण्ड भावना को रूप देकर उसी रूप की रेखाओ मे यथार्थ के सकेत व्यक्त करता है । इसी के उसका क्रम यथार्थ से भिन्न रहेगा । उदाहरण के लिए वह प्रतिमा पर्याप्त होगी, जिसमे कलाकार ने पूर्ण रेखाओ और प्रशान्त मुद्राओ की सीमा मे एव. असीम सामजस्य की भावना भर-कर शान्ति को नारी-रूपक मे प्रतिष्ठित किया है । उसकी रेखा-रेखा से फूटती हुई सामञ्जस्य की किरणे हमारी वाष्प जैसी अरूप और हल्की भावना को धरती की मलिनता से वहुत ऊपर ले जाती है और वहाँ से उसे जल की वूदो-सा, आर्द्रता मे गुरु रूप देकर प्यासे कणो पर झर-झर वरसा देती है ।

आदर्श हमारी दृष्टि की मलिन सकीर्णता धोकर उसे विखरे यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामजस्य को देखने की शक्ति देता है, हमारी व्यष्टि मे सीमित चेतना को, मुक्ति के पख देकर समष्टि तक पहुँचने की दिशा देता है और हमारी खण्डित भावना को, अखण्ड जागृति देकर उसे जीवन की विविधता नाप लेने का वरदान देता है । जव आदर्श जलभरे वादल की तरह आकाश का असीम विस्तार लेकर पृथ्वी के असख्य रगो और अनन्त रूपो मे नही उतर सकता, तव शरद् के सूने मेघ-खण्ड के समान शून्य का धव्वा वना रहना ही उसका लक्ष्य हो जाता है ।

आदर्श और यथार्थ की कला-स्थिति के सम्वन्ध मे एक समस्या और भी है । आदर्श हमारे सत्य की भावना होने के कारण अन्तर्जगत् की परिधि मे मुक्त हो सकता है और वाह्यजगत् मे केवल व्यापक रेखाओ का वन्दी रहकर अपनी अभिव्यक्ति कर सकता है । परन्तु यथार्थ हमारी भावना से वाहर भी, कठिन स्थूल वन्धनो के भीतर एक निश्चित स्थिति रखता है, अत उसे इस

प्रकार व्यक्त करना कि वह हमारा भी रहे और अपनापन भी न खोये सहज नहीं। दि य पारिजात क साथ, पुष्पत्व की व्यापक और मसार भर क फूलो के लिए सामान्य सीमा के अतिरिक्त रग, आकार, वन्त पल्लव आदि के सकोरण बन्धन नहीं हैं, इसी स हम रगो क ऐश्वय रूपो के कोष और पल्लव तथा वृ तो की समृद्धि म स अपनी भावना क अनुकूल चुनाव करके उस साकारता दे सकते हैं और हमारी इस साकारता क लिए यथाथ हमस कोई प्रश्न नहीं कर सकता।

इसके विपरीत गेहू की एक बाली का भी चित्र बनाने म हम एक विशेष रग खोजना होगा, पत्तियो का यथाथ अकित करना पडगा वन्त का निश्चित आकार प्रकार देना होगा दानो का यथातथ्य स्थिति म रखना होगा और इतन व धनो के भीतर अपनी भावना क मुक्त स्पन्दन स, इस मधात विशेष म सजीवता की प्रतिष्ठा करनी होगी।

यथाथ क सम्बन्ध म हम दाशनिक क समान यह कहकर सन्तोष नहीं कर सकते कि इसका रग हमारे नत्रो ने देखा कोमलता त्वचा न स्पर्श की गध घ्राणेन्द्रिय को मिली, स्वाद रसना ने ग्रहण किया और स्वर श्रवण को प्राप्त हुआ इसलिए यह हमारे स्पश, श्रवण घ्राण स्वाद और दृष्टि की समष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वज्ञानिक की तरह उसके रग रूपो क वचित्र्य भरे सग्रह का गला मिलाकर जड द्रव्य का सघातमात्र बना लेना भी, कलाकार को लक्ष्य तक नहीं पहुचाता। बालको के प्रथम पाठ आ स आदमी के समान सज्ञा ज्ञान बढ़ाना भी कलागत यथाथ की चरम परिणति नहीं।

यथाथ स्वय ही जड का सचेतन अभिव्यक्ति है अत इस अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति का प्रश्न सरलता ही मे जटिल है। कलाकार का प्रत्यक्ष सबका प्रत्यक्ष है इसलिए कवल नवीन रूपो के परिचय से दूसरो के प्रत्यक्ष ज्ञान की परिधि बढाने के लिए उस उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक दौड लगा-लगाकर भौगोलिक विभिन्नताओ मे जीवन के विविध रूपो का सग्रह करना होगा।

हम अपन घर के सामने न जान कब से समाधिस्थ सूखे ठूठ की रेखा रेखा पहचानते हैं। अपने द्वार पर कोमल पौधे से कठोर प्रहरी बन हुए नीम का हम पाताल म बन्दी चरणो स लेकर आकाश म उन्मुक्त शिखा तक जानते हैं। इनका प्रत्यक्ष सम्बन्धी ज्ञातव्य हम कलाकार से पूछने नहीं जायगे। परन्तु उजाली रात म आदमी, अँधेरी म प्रत और दिन म सूखा काठ बन जान वाले ठूठ की अनेक स्थितियाँ ऐसी है जिनसे हम परिचित नहीं। इसी प्रकार वसन्त म मोतियो क चूर स जड मरकत परिधान म झूमते और पतझर म चरणो पर

के भृकुटि भंग पर हँसता हुआ बालक पीछे खिलौने का फक्कर चर-चर कर देता है। तब वह आदर्श और यथार्थ के बीच की खाइयों को जीवन के सहज संवेदन से भरता हुआ उस देश में जा पहुँचता है जहाँ स्वप्न, सत्य का अनुमान है और सौन्दर्य उसका प्रमाण सूक्ष्म विश्व चेतना का संचरण है और स्थूल, उसका आकार ग्रहण।

हमारे चारों ओर एक प्रत्यक्ष जगत् है। उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारी ज्ञानेन्द्रियों से लेकर सूक्ष्म वैज्ञानिक यन्त्रों तक एक विस्तृत करण-जगत् बन चुका है और बनता जा रहा है। बाह्य जगत् के सम्बन्ध में विज्ञान और ज्ञान की विचित्र स्थिति है। जहाँ तक विज्ञान का प्रश्न है, उसने इन्द्रियजन्य ज्ञान में सबसे पूर्ण प्रत्यक्ष को भी अविश्वसनीय प्रमाणित कर दिया है। अपनी अपूर्णता नहीं पूर्णता में भी दृष्टि, रंगों के अभाव में रंग ग्रहण करने की क्षमता रखती है और रूपों की उपस्थिति में भी उनकी यथार्थता बदल सकती है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर, अनुमान स्मृति आदि की अप्रत्यक्ष छाया फैली रहती है। पर इतना सब कह-सुन चुकने पर भी यह स्पष्ट है कि हम ऊपर नीलिमा के स्थान में खोखला आकाश, टिमटिमाते ग्रह-नक्षत्रों के स्थान में अधर में लटक-कर वेग से घूमनेवाला विशाल ब्रह्माण्ड और पैरों तले समतल धरती के स्थान में ढालू और दौड़ते हुए गोलाकार का अनुभव कर प्रसन्न न हो सकेंगे। हमें यह विशिष्ट ज्ञान उपयोग के लिए चाहिए, पर उस उपयोग के उपभोग के लिए हम अपना सहज अनुभव ही चाहते रहेंगे। इसी कारण वैज्ञानिक ज्ञान को सीखकर भूलता है और कलाकार भूलकर सीखता है।

यथार्थ के सम्बन्ध में यदि केवल वैज्ञानिक दृष्टि रखें तो वह काव्य को लक्ष्यभ्रष्ट कर देगी क्योंकि आनन्द के लिए उसकी परिधि में स्थान नहीं। विज्ञान का यथार्थ स्वयं विभक्त और निर्जीव होकर ज्ञान की उपलब्धि सम्भव कर देता है पर काव्य के यथार्थ को अपनी सीमित सजीवता से ही एक व्यापक सजीवता और अखण्डता का परिचय देना होगा। और केवल ज्ञानाश्रयी कवि यथार्थ को ऐसे उपस्थित करने की शक्ति नहीं रखता।

साधारणतः मनुष्य और संसार की क्रिया प्रतिक्रिया से उत्पन्न ज्ञान, अनुभूति सब संस्कारों का ऐसा रहस्यमय ताना-बाना बुनते चलते हैं, जो एक ओर हृदय और मस्तिष्क का जोड़ रहता है और दूसरी ओर जीवन के लिए एक विस्तृत पीठिका प्रस्तुत कर देता है। जिसके पास यह संस्कार भावराशि जितना व्यापक, सामञ्जस्यपूर्ण और सुलझा हुआ होगा, वह यथार्थ का उतनी ही सफल जीवन स्थिति दे सकता है। इस संस्कार की छिन्नभिन्नता में हम ऐसा

यथार्थवादी मिलेगा, जो जीवन को विरूप खण्डो मे बॉटता चलता है और इसके नितान्त अभाव मे ऐसा विक्षिप्त सम्भव है, जो सुखदुखो का अनुभव करने पर भी उन्हे कोई सामान्य आधारभित्ति नही दे पाता।

ससार मे प्रत्येक सुन्दर वस्तु उसी सीमा तक सुन्दर है, जिस सीमा तक वह जीवन की विविधता के साथ सामजस्य की स्थिति बनाये हुए है और प्रत्येक विरूप वस्तु उसी अश तक विरूप है, जिस अश तक वह जीवनव्यापी सामजस्य को छिन्न-भिन्न करती है। अत यथार्थ का द्रष्टा जीवन की विविधता मे व्याप्त सामजस्य को विना जाने, अपना निर्णय उपस्थित नही कर पाता और करे भी तो उसे जीवन की स्वीकृति नही मिलती। और जीवन के सजीव स्पर्श के विना केवल कुरूप और केवल सुन्दर को एकत्र कर देने का वही परिणाम अवश्यम्भावी है, जो नरक-स्वर्ग की सृष्टि का हुआ।

ससार मे सवसे अधिक दण्डनीय वह व्यक्ति है, जिसने यथार्थ के कुत्सित पक्ष को एकत्र कर नरक का आविष्कार कर डाला, क्योकि उस चित्र ने मनुष्य की सारी वर्वरता को चुन-चुनकर ऐते व्योरेवार प्रदर्शित किया कि जीवन के कोने-कोने मे नरक गढा जाने लगा। इसके उपरान्त, उसे यथार्थ के अकेले सुख-पक्ष को पुञ्जीभूत कर इस तरह सजाना पडा कि मनुष्य उसे खोजने के लिए जीवन को छिन्न-भिन्न करने लगा।

एकान्त यथार्थवादी काव्य मे यथार्थ के ऐसे ही एकागी प्रतिरूप स्वाभाविक हो जाते है। एक ओर यथार्थद्रष्टा केवल विरूपताएँ चुन कर उनसे जीवन को सजा देता है और दूसरी ओर उसके हृदय को चीर-चीरकर स्थूल सुखो की प्रदर्शिनी रचता है। केवल उत्तेजक और वीप्साजनक काव्य और कलाओ के मूल मे यही प्रवृत्ति मिलेगी। इन दोनो सीमाओ से दूर रहने के लिए कवि को जीवन की अखण्डता और व्यापकता से परिचित होना होगा, क्योकि इसी पीठिका पर यथार्थ चिरन्तन गतिशीलता पा सकता है।

यथार्थ यदि सुन्दर है, तो यह पृष्ठभूमि तरल जल के समान उसे सौ-सौ पुलको मे झुलाती है और यदि विरूप है, तो वह तरल कोमलता हिम का ऐसा स्थिर और उज्ज्वल विस्तार वन जाती है, जिसकी अनन्त स्वच्छता मे एक छोटा-सा धब्बा भी असह्य हो उठता है। इस आधार-भित्ति पर जीवन की कुत्सा देख-कर हमारा हृदय कॉप जाता हे, पर एक अतृप्त लिप्सा से नही भर आता।

यदि यथार्थ को केवल इतिवृत्ति का क्रम मान लिया जावे, तो भी व्यक्तिगत भावभूमि पर अपनी स्थिति रखकर ही वह काव्य के उपयुक्त सवेदनीयता

न हो सके, इसकी ओर भी उन्हे सतर्क रहना पडा । फिर भी यह सत्य है कि वे एकागी नही हो सके ।

काव्य हमारे अन्तर्जगत् मे मुक्ति का ऐसा अनुभव कर चुकता है कि उससे वाह्य जगत् के सकेतो का अक्षरश पालन नही हो पाता । रामायणकार ऋपि का दृष्टिविन्दु कर्त्तव्य के युग से प्रभावित था अवश्य, पर उसने युग-प्रतिनिधि कर्तव्यपालक की भी त्रुटियो को छिपाने का प्रयास नही किया । राजा के चरम आदर्श तक पहुँचकर भी वह जब साध्वी पर परित्यक्त पत्नी की फिर अग्निपरीक्षा लेना चाहता है, तव वह नारी उस कर्तव्यपालक के पत्नीत्व के वदले मृत्यु स्वीकार कर लेती है । जीवन के अन्त मे एकागी कर्तव्य की जैसी पराजय ऋपिकवि ने अकित की है, उसकी रेखा-रेखा मे मानो उसका भ्रू-भग कहता है—वस इतना ही तो इसका मूल्य था ।

विजय केन्द्रविन्दु होने पर भी महाभारत मे असत्य साधनो को उज्ज्वलता नही मिल सकी । सघर्प सफल हो गया, कहकर भी कवि ने उस सफलता की उजली रेखाओ मे ग्लानि का इतना काला रग भर दिया है कि विजयी ही नही आज का पाठक भी काँप उठता है ।

जीवन के प्रति स्वय आस्थावान् होने के कारण कवि का विश्वास भी एक आदर्श वनकर उपस्थित होता है । शकुन्तला की आत्महत्या तो सरल सौन्दर्य और सहज विश्वास की हत्या है ; उसे कवि कल्पना मे भी नही अगीकार करेगा, पर उस सौन्दर्य और विश्वास को ठुकराने वाले दुष्यन्त के पश्चात्ताप मे से वह लेशमात्र भी नही घटाता । इतना ही नही, जिस पवित्र सौन्दर्य और मधुर विश्वास की प्राप्ति एक दिन कण्व के साधारण तपोवन मे अनायास ही हो गयी थी, उसी के पुनर्दर्शन के लिए दुष्यन्त को स्वर्ग तक जाने का आयास भी करना पडता है और दिव्यभूमि पर, अपराधी याचक के रूप मे खडा भी होना पडता है ।

साराँश यह कि अपने युगसीमित आदर्श को स्वीकार करके भी कवि उसे विस्तृत विविधता के साथ व्यक्त करते रहे है । जैसे शिष्य के वनाये पूर्ण चित्र मे भी कलाकार-गुरु अपनी कुशल उँगलियो मे थमी तूली से कुछ रेखाएँ इस तरह घटा-वढा देता है, कही-कही रग इस तरह हल्के-गहरे कर देता है कि उसमें एक नया रहस्य यत्र-तत्र झलकने लगता है, वैसे ही प्राचीन ऋपि-कवियो ने अपने युग की निश्चित रेखाओ और पक्के रगो के भीतर से युगयुगान्तरव्यापी जीवनरहस्य को व्यक्त कर दिया है । आज का युग उनसे इतना दूर है कि उस

सामयिक समस्या

●●

हमारे आधुनिक जागरण युग की प्रेरणा दोहरी है—एक वह जिसने अतर की शक्तियों को फिर से नापा-तोला जीवन के विषम खण्डो म व्याप्त एकता को पहिचाना तथा मानसिक सस्कार का प्रधानता दी और दूसरा वह जिसने यथार्थ जीवन के पुनर्निर्माण की दिशा की खोज की उसमे नवीन प्रयोग किए और अतर की शक्तियो का कम म साकारता दी। यह दोनो क्रम मिलकर विकास पाते रहे ह अत यह कहना कठिन है कि एक की सीमा का अत कहाँ होता है और दूसरे के आरम्भ का बिन्दु कहाँ है परन्तु इन दोनो प्रवृत्तियो ने आदर्श और यथार्थानुगत दो विभिन्न विचारधाराओ को गति दी है।

छायायुग का काव्य द्विवेदी युग के आदर्शात्मक उपयोगितावाद के विरोध म उत्पन्न और नवीन जागरण की आलोक छाया म विकसित हुआ। इसी से अतर की ओर झाकने की प्रवृत्ति उसका स्वभाव है और यथार्थोन्मुख इतिवृत्तात्मकता का उसम अभाव है। सामयिक परिस्थितियाँ भी इस प्रवृत्ति के विकास म सहायक हुई। यह प्रवृत्ति प्रत्यक्षत हृदय और परोक्षत बुद्धि का सहारा लेकर कभी व्यक्तिगत हर्ष विषाद और कभी समष्टिगत करुणा को सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त करने लगी। यथार्थ जीवन की विषमता का चित्र न देकर कवियो ने कही विषमता के प्रभाव और कही सामञ्जस्य के भाव को वाणी दी है पर इतिवृत्तात्मक यथार्थ का प्रश्न भी उनके मन म बार-बार उठता रहा। रहस्यात्मक प्रसाद का कङ्काल जसा उपन्यास दार्शनिक रचनाओ के साथ निराला की भिखारी जसी रचनाए और जगमरा गद्य पल्लव के कवि की पाँच कहानियाँ आदि म अन्तर्मुखी प्रेरणा का यथार्थ से परिचय

है। भावभूमि पर परम सुकुमार ये कवि तर्कभूमि पर कितने कठोर हो जाते हैं, इसे विना जाने हम छायावाद के साथ न्याय न कर सकेगे।

आधुनिक वैज्ञानिक युग का बुद्धिवाद जब अनुभूतियो को भावभूमि से हटाकर तर्कभूमि पर प्रतिष्ठित करने लगा, तव हमे वह यथार्थवादी काव्य प्राप्त हो सका, जो वुद्धि की प्रधानता के कारण नया, पर यथार्थोन्मुखी प्रेरणा के कारण पुराना कहा जायगा। सफल यथार्थ-काव्य के लिए अनुभूतियो को कठोर धरती का निश्चित स्पर्श देकर भी भाव के आकाश की छाया मे रखना उचित था, जो इस युग की अस्वाभाविक वौद्धिकता के कारण सहज न हो सका।

गद्य तार्किक सत्य दे सकता है, पर काव्य मे सत्य का रागात्मक रूप ही अपेक्षित रहेगा। जीवन की विपमता का समाधान खोजने मे व्यस्त कवि इस प्रत्यक्ष सत्य की ओर ध्यान देने का अवकाश न पा सके, अतः शुद्ध तर्कवादिनी पदावली ही इतिवृत्त का नवीन माध्यम वनने लगी। उसमे मर्मस्पर्शिता का जो अभाव मिलता था, उसे काव्य की त्रुटि न मानकर नवीनता का अनिवार्य परिणाम मान लिया गया। कहना व्यर्थ होगा कि इस कार्य-कारण मे कोई स्वाभाविक सम्वन्ध नही। आज से सहस्रो वर्ष पूर्व लिखित काव्यो की सर्वथा भिन्न परिस्थितियाँ और अपरिचित इतिवृत्त, जव हमारे हृदय को प्रभावित कर सकते हैं, तव अपने युग के यथार्थ मे प्रभविष्णुता का अभाव अपरिचयमूलक नही माना जा सकता। छायावाद स्वय एक अति परिचित और प्रतिष्ठित काव्य-धारा से भिन्न नवीन रूप मे उपस्थित हुआ था, पर उसे हृदय तक पहुँचते देर नही लगी। भाव के माध्यम से आनेवाली अलौकिक अनुभूतियाँ भी इतनी परिचित हो सकी कि उनकी उपयोगिता के प्रति सदिग्ध यथार्थवादी भी उनके माधुर्य और मर्मस्पर्शिता को अस्वीकार नही कर पाता।

साधारणत कवि की प्रथम रचना मे छन्द, भापा आदि की त्रुटियाँ रहने पर भी ऐसा भावातिरेक मिलता है, जो अन्य प्रौढ रचनाओ मे सुलभ नही। छायायुग के कवियो ने अपनी किशोरावस्था मे जो काव्य-सृजन किया है, वह भावाधिक्य के कारण शुद्ध काव्य की दृष्टि से विरोधियो की कसौटी पर भी खरा उतरता है। पर भाव और सवेदनीयता की न्यूनता के कारण नवीन रचनाएँ इतनी अशक्त है कि उनके समर्थक नवीनता की दोहाई देकर उन्हे निष्पक्ष कसौटी से भी वचाने का प्रयत्न करते है।

इसे काव्य की ऐसी त्रुटि कहना चाहिए जो सव काल और सव विचार-धाराओ मे सम्भव होने के कारण विपय-निरपेक्ष रहेगी। इन रचनाओ ने

मस्तिष्क को चिन्तन की सामग्री भले ही दी हो पर हृदय का उसमे अपने प्रभाव की कोई पूर्ति प्राप्त न हो सकी। परिणामत जैसे ठंडे जल की धारा के नीचे जाते ही गर्म जल की धारा ऊपर की सतह पर आ जाती है उसी प्रकार काव्य का मूल प्रेरणा के दबते ही सस्ता उत्तेजना प्रधान रचना अपना परिचय देने लगी। बुद्धि ने जिस हृदय की उपेक्षा कर डाली, उसी को चचल बनाने का लक्ष्य लेकर यह काव्य यथार्थ का उत्तेजक पर कुत्सित पक्ष सामने रखने लगा। ऐसा यथार्थवाद, आदर्श और उपयोगिता को महत्त्व देनेवाले पिछले युग मे भी उपस्थित था। अन्तर केवल इतना ही है कि वह सुधार का लक्ष्य सामने रखकर अपनी वाछनीयता को प्रमाणित करता था और यह प्रगति का प्रश्न आगे रखकर अपनी अवाछनीय स्थिति का समर्थन चाहता था। जिस युग मे काव्य हृदय का साथ छोडकर स्वस्थ होने की इच्छा रखता है उसमे उसे प्राय उत्तेजक स्थूल की बैसाखी के सहारे चलना पडता है और इस प्रकार वह रहे सहे स्वास्थ्य से भी हाथ धो बैठता है।

जिन्हे यथार्थ का उत्तेजक रूप उपयुक्त नही जान पडा, उन्होने पिछले युग की राष्ट्रीय भावना को नवीन रूप मे व्यक्त किया—इस प्रकार हम कुछ नवीन और कुछ पुरातन विचार धाराओ के सयोग से आज के काव्य की रूपरेखा मिल रही है।

साधारणत नवीन काव्यधारा ने अभी छायावाद की बाह्य रूपरेखा नही छोडी केवल शब्दावली, छन्द, ध्वनि आदि मे एक निरन्तर सतर्क शिथिलता लाकर उसे विशेषता मान लिया है। अपने प्रारम्भिक रूप मे ही यह रचनाएँ पर्याप्त भिन्नता रखती हैं जिससे हम उनमे व्यक्त विभिन्न विचारधाराओ से सहज ही परिचित हो सकते हैं।

इस काव्य की एक धारा ऐसी चिन्तन प्रधान रचनाओ को जन्म दे रही है, जिनमे एक ओर विविध बौद्धिक निरूपणों द्वारा कुछ प्रचलित सिद्धान्तो का प्रतिपादन होता चलता है और दूसरी ओर पीडित मानवता के प्रति बौद्धिक सहानुभूति का व्यक्तीकरण। इन रचनाओ के मूल मे वर्तमान अवस्थाओ की प्रतिक्रिया अवश्य है, परन्तु वह मनुष्य की रागात्मक प्रवृत्तियों मे उत्पन्न न होकर उनसे ठंडे चिन्तन मे जन्म और विराम पाती है अत उसमे आवश्यक भावप्रवणता का नितान्त अभाव स्वाभाविक है।

दूसरी धारा मे पिछले वर्षों के राष्ट्रीय गानो की परम्परा ही कुछ अतिशयोक्ति और उग्रता के साथ व्यक्त हो रही है। ऐसी रचनाओ मे कवि का अहकार स्वानुभूत न होकर रूढि मात्र बन गया है। इसी से वह प्रलयकर

महानाश की ज्वाला, आदि रूपको मे व्यक्त क्षणिक् उत्तेजना मे फुलझडी के समान जलता-बुझता रहता है। असख्य निर्जीव आवृत्तियो के कारण यह शब्दावली अपना प्रभाव खो चुकी है; कवि जब तक सच्चाई के साथ इसमे अपने प्राण नही फूंक देता, तब तक यह कविता के क्षेत्र मे विशेप महत्त्व नही पाती।

तीसरी काव्यधारा की रूपरेखा आदर्शवाद की विरोध-भावना से बनी है। इसमे एक ओर यथार्थ की छाया मे वासना के वे नग्न चित्र है, जो मूलत हमारी सामाजिक विकृति से सम्बन्ध रखते है और दूसरी ओर जीवन के, वे घृणित कुत्सित रूप, जो हमारी समष्टिगत चेतना के अभाव से उत्पन्न है। एक मे भावना की परिणति का अभाव है और दूसरे मे सवेदनीय अनुभूति का, अत यह कृतियाँ हमारे सामने केवल एक विचित्र चित्रशाला प्रस्तुत करती हैं।

यथार्थ का काव्यगत चित्रण सहज होता है, यह धारणा भ्रान्तिमूलक ही प्रमाणित होगी। वास्तव मे यथार्थ के चितेरे को अपनी अनुभूतियो के हल्के से हल्के और गहरे से गहरे रगो के प्रयोग मे बहुत सावधान रहना पडता है, क्योकि उसका चित्र आदर्श के समान न अस्पष्ट होकर अग्राह्य हो सकता है और न व्यक्तिगत भावना मे बहुरगी। वह प्रकृत न होने पर विकृत के अनेक रूप-रूपान्तरो मे से किसी एक मे प्रतिष्ठित होगा ही। यथार्थ की कविता को जीवन के उस स्तर पर रहना पडता है, जहाँ से वह हमे जीवन के भिन्नवर्णी चित्र ही नही देती, प्रत्युत् उनमे व्यक्त जीवन के प्रति एक प्रतिक्रियात्मक सवेदन भी देती है। घृणित कुत्सित के प्रति हमारी करुण सवेदना की प्रगति और क्रूर कठोर के विरुद्ध हमारी कोमल भावना की जागृति, यथार्थ का ही वरदान है। परन्तु अपनी विकृति मे यथार्थवाद ने हमे क्या दिया है, इसे जानने के लिए हम अपने नैतिक पतन के नग्नरूप पर आश्रित साहित्य को देख सकते है।

भविष्य मे यथार्थ की जो दिशा होगी, उसकी कल्पना अभी समीचीन नही हो सकती।

इतना स्पष्ट है कि श्रमिको की वाणी मे बोलनेवाली यह कविता ऐसे मध्यम वर्ग के कठ से उत्पन्न हो रही है, जो श्रमिक जीवन से नितान्त अपरिचित और अपने जीवन की विपमता से पूर्णत· क्लान्त है, अत· इसे समझने के लिए उसी वर्ग की पृष्ठभूमि चाहिए। हमारा जातीय इतिहास प्रमाणित कर देगा कि सास्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी यह वर्ग बदलती हुई परिस्थितियो से उच्चवर्ग की अपेक्षा अधिक प्रभावित होता है। सख्या मे हल्के और सुविधाओ मे भारी उच्च वर्ग ने किसी भी सघर्ष मे अपनी स्थिति मे कोई विशेप परिवर्तन नही किया है। मध्ययुग मे विजेताओ से कुछ समय तक सघर्प कर तथा सख्या

मे कुछ घट कर जब उच्चवर्ग फिर पुरानी स्थिति म मा गया, तब मध्यमवर्ग की समस्याएँ ज्यो की त्यो थी। उनम से कुछ न राजदरबारा म शृङ्गार और विलास के राग गाये कुछ ने जीवन को भक्ति और ज्ञान की पूत धाराग्रा मे निमज्जित कर डाला और कुछ फारसी पढ-पढकर मुन्शी बनने लगे।

उसके उपरान्त फिर इसी इतिहास की आवृत्ति हुई। जब उच्चवर्ग पाश्चात्य शासको की वरद छाया म अपने पुरान फीके जीवन पर नयी सभ्यता का सुनहला पानी फेर रहा था, तब मध्यम वर्ग म अधिकाश के जीवन म अँगरेजी सीखकर केवल क्लर्क बनने की साधना वेगवती होती जा रही थी। इस साधना की सफलता ने उसे यन्त्र मात्र ही रहने दिया पर तब भी उसकी यह धारणा न मिटी कि उसका और उसकी सन्तान का कल्याण केवल इसी दिशा म रक्षित है।

इस बीच म सामाजिक तथा सास्कृतिक विकास के लिए नयी प्रेरणा मिलने का कही अवकाश ही न था। पुरानी जीर्ण शीर्ण व्यवस्थाग्रो के भीतर हमारा सामाजिक जीवन उत्तरोत्तर विकृत होने लगा। सस्कृति के नाम पर जो कुछ प्रचलित रूढियाँ थी व जीवन म और कोई द्वार न पाकर धर्म और साहित्य म फलने लगा। इस पक मे कमल भी खिल अवश्य, परन्तु इससे जल की पकिलता म अन्तर नही पडता।

ऐसे ही समय म भारतेन्दु-युग की कविता म बिखरे देश प्रेम को हमारी राष्ट्रीय भावना म विकास पाने का अवसर मिला। साधारणत जीवन की व्यष्टिगत चेतना के पश्चात ही समष्टिगत राष्ट्रीय चेतना का उदय होना चाहिए। परन्तु साधन और समय के अभाव म हम इस चेतना का आवाहन केवल असुविधाग्रो के भौतिक धरातल पर ही कर सके, इसी से शताब्दियो से निर्जीवप्राय जनसमूह सक्रिय चेतना लेकर पूर्णरूप से अब तक न जाग सका।

मध्यवर्ग का इस जागृति म क्या स्थान है यह बताने की आवश्यकता नही परन्तु इसके उपरान्त भी उसकी स्थिति अनिश्चित और जटिलतर होती गयी। हमारी राष्ट्रीय चेतना एक विशेष राजनीतिक ध्येय को लेकर जाग्रत हुई थी अत जीवन की उन अन्य व्यवस्थाग्रो की ओर ध्यान देने का उसे अवकाश ही नही मिला जो जीवन की व्यष्टिगत चेतना से सम्बन्ध रखती थी।

यह स्वाभाविक ही था कि जीवन की बाह्य व्यवस्था म विकास न होने के कारण हमारी सब प्रवृत्तिया और मनोवृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर हमारे भावजगत् को अत्यधिक समृद्ध कर देती। छायावाद और रहस्यवाद के अन्तर्गत सूक्ष्मतम अनुभूतियो के कोमलतम मूर्त्त रूप भावना के हल्के रगो का वचित्र्य

सरल और स्वाभाविक सौंदर्य के प्रति उसकी सतर्क विरक्ति उचित नहीं, जो जीवन के घृणित कुत्सित रूप के प्रति भी हमारी ममता को जगा सकता है।

इसके अतिरिक्त विचारों के प्रसार और प्रचार के अनेक वैज्ञानिक साधनों से युक्त युग में, गद्य का उत्तरोत्तर परिष्कृत होता चलनेवाला रूप रहते हुए हम अपने केवल बौद्धिक निरूपण और वादविशेष सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए कविता की आवश्यकता नहीं रही। चाणक्य की नीति वीणा पर गायी जा सकती है परन्तु इस प्रकार वह न नीति की कोटि में आ सकती है और न गीत की सीमा में इसे जानकर ही इस बुद्धिवादी युग को हम कुछ दे सकेंगे।

यथार्थदर्शी कवि यदि अपने ही समाज के जीवन को बहुत सचाई से व्यक्त करता तो शुष्क सिद्धान्तवाद के स्थान में सजीवता और स्वाभाविकता रहती। पर उस जीवन के साथ कवि की स्थिति वैसी ही है जैसी नीम के तने से फूट आनेवाली पीपल की शाखा की। वह नाम में चाहे पीपल कहलाय, परन्तु अपने पोषण के लिए तो उसी नीम पर आश्रित रहेगा अतः नीम से भिन्न उसकी स्थिति शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अपने समाज की सृष्टि होने के कारण वह उस जीवन की कृत्रिमता और विषमता के स्पर्श से रहित नहीं और जब अपनी ही विरूपता का विस्तार या संकोच देखना हो तो न दर्पण का आकार विशेष आकर्षण रखता है, न छोटी आरसी।

उपर्युक्त परिस्थितियों में कवि ने जिस चिर उपेक्षित मानवसमष्टि में बसेरा करना चाहा उसके प्रति भी उसके दो कर्तव्य आवश्यक हो उठे—एक तो उस जीवन को इतनी सजीवता से चित्रित करना कि उपेक्षा करनेवाले उस ओर देखने पर विवश हों और दूसरे उन मानवों में इतनी चेतना जाग्रत करना कि वे स्वयं अपना महत्त्व समझें और दूसरों को समझा सकें। दोनों ही लक्ष्यों तक पहुँचने के लिए उस जीवन का निकट परिचय पहली सीढ़ी है।

यदि आज का कवि अपनी बौद्धिक ऊँचाई से उसकी निम्न भूमि पर उतर सकता तो उस धरातल के जीवों के कण्ठ में वाणी आ जाने की भी सम्भावना थी और इनके कण्ठ में सत्य का बल आ जाने की भी। उस स्थिति में उस जीवन के चित्र इतने सजीव और वास्तव हुए बन जाते कि उपेक्षा करनेवाले न उन्हें अनदेखा कर पाते न अनसुना। यह उससे नहीं हो सका क्योंकि मनुष्य का अहंकार ऐसा है कि प्रासादों का भिखारी कुटी का अतिथि देवता बनना भी स्वीकार नहीं करेगा।

केवल बौद्धिक चेतना के कारण यथार्थोन्मुख कवि ने उस पीड़ित-जीवन

के मानचित्र और विकृतियों की रेखागणित लेकर ही कार्य आरम्भ किया था। जैसे-जैसे ये साधन अधिक असंतुष्ट और कम सहृदय व्यक्तियों के हाथ में पड़ते जाते हैं, वैसे-वैसे अपने संकेत और सार्थकता खोते जाते हैं। मलिन जीवन की सुनी-सुनाई शोक-कथा का जैसा प्रदर्शन होता है वह आँसुओं के अभाव और शरीर के व्यायाम से भरे-पूरे स्यापे के निकट आता जा रहा है, जिसमें मृतक के गुण गा-गाकर उसकी परोक्ष आत्मा को शोकाञ्जलि दी जाती है। सिद्धान्तों की रक्षा इस प्रकार हो सकती है, परन्तु प्रेरणा सम्बन्धी समस्या का तो यह समाधान नहीं।

इन अधूरे चित्रों का आधार तो उस वनिकशु के समान है, जो न देवता का ज्ञान रखता है, न कुमकुम-फूल चढ़ानेवाले को जानता है और न वधिक को पहचानता है।

जहाँ तक उपेक्षा करनेवालों का प्रश्न है, वे तो युगों से इन स्पन्दित कंकालों को देखते आ रहे हैं। जब यही उनके हृदय को नहीं छू पाते, तब कोरे सिद्धान्त उन्हें कैसे प्रभावित करेंगे! उनके कठोर स्तरों के भीतर एक हृदय होने की सम्भावना है, परन्तु उसे संवेदनशील बनाने के लिए जीवन का बहुत निश्चित और मार्मिक स्पर्श चाहिए, केवल प्रवचन और व्याजनिन्दा नहीं। इसके अतिरिक्त जीवन-संपर्क से शून्य सिद्धान्तवाद ही विकृति की उर्वरा भूमि है। समाज, धर्म, नीति, साहित्य आदि किसी भी क्षेत्र में सिद्धांत, जीवनव्यापी सत्य का सर्वांगपूर्ण होकर ही उपस्थित हो सकते हैं, अतः उनके प्रयोक्ता जीवन की जितनी गहरी अनुभूति रखते हैं, उतना ही व्यापक ज्ञान। उनके परवर्ती आलस्य और प्रमादवश ज्यों-ज्यों जीवन से दूर हटते जाते हैं, त्यों-त्यों लीक पीटने की परम्परा ही गति का पर्याय बनती जाती है।

आज के सिद्धान्त कल्याणोन्मुख होने पर भी यदि जीवन की दूरी में ही जन्म और विकास पा रहे हैं, तो उनका भविष्य और भी संदिग्ध हो जाता है। यदि इस अभिनव युग का सम्मत पर प्रतिनिधि कवि या साहित्यकार ही जीवन के निकट सम्पर्क को नहीं सह सकता, तो उसके अनुगामी, इस अनायास मिली परम्परा को छोड़कर जीवन खोजने जा सकेंगे, ऐसा विश्वास कठिन है।

और यह तो निश्चित ही है कि आज का सिद्धान्त यदि जीवन के स्पर्श से निरन्तर नवीनता न पाता रहे तो कल रूढ़ि मात्र रह जायगा। इसके अतिरिक्त हमारी विकृति के मूल में अर्थ के साथ वह जातीयता भी है, जो जन्म से ही एक को पवित्र और पूजार्ह और दूसरे को अपवित्र तथा त्याज्य बना देती है।

आज जीवन के निकट परिचय के साथ कवि म उस अखण्डता का भावन भी अपेक्षित है जो मनुष्य मनुष्य को एक ही धरातल पर समानता ? सके।

यथार्थवाद के पास दलित वग को छोडकर जो एक और चिरन्तन विषय रह जाता है वह है नारी। पिछला युग इसे बादल तारे, स"या के रग आदि मे छिपा आया था, अत यथाथ ने छायाग्राही बनकर उसे धूलि म खाच ही नही लिया वरन् वह जीवन के सब स्तर दूर करके उसके ककाल की नाप जोख करना चाहता है। इस स्थिति का परिणाम समझने के लिए मानवी को *जीवन की पृष्ठभूमि पर देखना होगा।*

नारी केवल मासपिण्ड की सना नही है। आदिम काल स आज तक विकास पथ पर पुरुष का साथ देकर उसकी यात्रा को सरल बनाकर, उसके अभिशापा को स्वय भेलकर और अपने वरदानो से जीवन म अक्षय शक्ति भरकर मानवी ने जिस "यक्तित्व, चेतना और हृदय का विकास किया है उसी का पर्याय नारी है। *किसी भी जीवित जाति ने उसके विविध रूपो और शक्तियो की अवमानना* नही की, परन्तु किसी भी मरणासन्न जाति ने अपनी मृत्यु की "यथा कम करने के लिए उस मदिरा स अधिक महत्त्व नही दिया।

पिछले जागरण युग ने अपने पूववर्ती युग से जो जीव पाया था उसे तो मानवी के स्थान म सौ"दय का ध्वस्त आविष्कार विभाग कहना उचित होगा। खडी बोली के आदशवादी कवि ने मलिनता म मिली पुरानी मूर्ति के समान उसे स्वच्छ और परिष्कृत करके ऊँचे सिंहासन पर प्रतिष्ठित तो कर दिया, परन्तु वह उसे गतिशीलता देने मे असमथ रहा। छायायुग ने उस कठोर अचलता से शापमुक्ति देने के लिए नारी को प्रकृति के समान ही मूत्त और अमूत्त स्थिति दे डाली। उस स्थिति म सौ"दय को एक रहस्यमयी सूक्ष्मता और विविधता प्राप्त हो जाना सहज हो गया पर वह यापकता जीवन की यथाथ सीमारेखाओ को स्पष्ट न कर सकी।

आज के यथाथवादी को उस सौ"दय के स्वप्न और "क्ति के आदश को सजीव साकारता दनी हागी। अत उसका काय व्यजना के आविष्कारक से अधिक महत्त्वपूण और सूक्ष्मता के उपासक से अधिक कठिन है।

जहाँ तक नारी की स्थिति का प्रश्न है वह आज इतनी सनाहीन और पगु नहा कि पुरुष अकेले ही उसके भविष्य और गति के सम्ब ध म निश्चय कर ले। हमार राष्ट्रीय जागरण मे उसका सहयोग महत्त्वपूण और बलिदान अनश्वर हैं। समाज म वह अपनी स्थिति क प्रति विशेष सजग और सतक हो चुकी है। साहित्य को कुछ ही वर्षों म उसकी सजीवता का जसा परिचय मिल चुका है,

वह भी उपेक्षणीय नही। इसके अतिरिक्त इस सक्रान्ति-काल मे सभी देशो की नारी अपने कठिन त्यागो से अर्जित गृह, सन्तान तथा जीवन को अरक्षित देखकर और पुरुप की स्वभावगत पुरानी बर्बरता का नया परिचय पाकर, सम्पूर्ण शक्ति के साथ जाग उठी है। भारतीय नारी भी इसका अपवाद नही।

ऐसे ही अवसर पर यथार्थवाद ने एक ओर नारी की वैज्ञानिक शव-परीक्षा प्रारम्भ की है और दूसरी ओर उसे उच्छृखल विलास का साधन बनाया है।

वैज्ञानिक परीक्षा के सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना आवश्यक है कि नारी ऐसा यन्त्र मात्र नही, जिसके सब कल-पुर्जों का प्रदर्शन ही, ज्ञान की पूर्णता और उनका सयोजन ही क्रियाशीलता हो सके। पुरुप व्यक्ति मात्र है, परन्तु स्त्री उस सस्था से कम नही, जिसके प्रभाव की अनेक दिशाएँ है और सृजन मे रहस्यमयी विविधता रहती है। वास्तव मे ससार का कोई भी महत्त्वपूर्ण सृजन बहुत स्पष्ट और निरावरण नही होता। धरती के अप्रत्यक्ष हृदय मे अकुर की सृष्टि होती है, अन्धकार की गहनता के भीतर से दिन का आविर्भाव होता है और अन्तर की रहस्यमयी प्रेरणा से जीवन को विकास मिलता है। नारी भी स्थूल से सूक्ष्म तक न जाने कितने साधनो से, जीवन और जाति के सर्वतोन्मुखी निर्माण मे सहायक होती है।

निर्जीव शरीर-विज्ञान ही उसके जीवन की सृजनात्मक शक्तियो का परिचय नही दे सकता। वास्तव मे उसके पूर्ण विकासशील सहयोग को प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि ही नही, हृदय का वह सस्कार भी अपेक्षित रहेगा, जिसके बिना मनुष्य का कोई सामाजिक मूल्य नही ठहरता।

और आज की परिस्थितियो मे, अनियन्त्रित वासना का प्रदर्शन स्त्री के प्रति क्रूर व्यग ही नही, जीवन के प्रति विश्वास-घात भी है।

नारी-जीवन की अधिकाश विकृतियो के मूल मे पुरुप की यही प्रवृत्ति मिलती है, अत आधुनिक नारी नये नामो और नूतन आवरणो मे भी इसे पहचानने मे भूल नही करेगी। उसके स्वभाव मे, परिस्थितियो के अनुसार अपने-आपको ढाल लेने का सस्कार भी शेप है और उसके जीवन मे, दिनोदिन बढता हुआ विद्रोह भी प्रवाहशील है। यदि वह पुरुप की इस प्रवृत्ति को स्वीकृति देती है, तो जीवन को बहुत पीछे लौटा ले जाकर एक श्मशान मे छोड़ आती है और यदि उसे अस्वीकार करती है, तो समाज को बहुत पीछे छोड शून्य मे आगे बढ जाती है। स्त्री के जीवन के तार-तार को जिसने तोडकर उलझा डाला है, उसके अणु-अणु को जिसने निर्जीव बना दिया है और उसके सोने के

ससार को जो घूलि क माल लती रही है, पुरुष की वही लालसा, आज की नारी के लिए विश्वस्त मार्गदर्शिका न बन सकेगी।

छायावाद की छायामयी को आघात पहुँचाने क लिए यह प्रयास एसा ही है जसा आकाश के रगो को काटन क लिए दो धारवाली तलवार चलाना, जो एक और चलानेवाले क हाथ थकाती रहती है और दूसरी ओर समीपवर्तियो को चोट पहुचाती है। व रग तो मनुष्य की अपनी दृष्टि म घुले मिले हैं। छाया युग की नारी पुरुष के सौन्दर्य-बोध, स्वप्न आदर्श आदि का प्रतीक है। आज पुरुष यदि उस प्रतीक को जीवन की पीठिका पर प्रतिष्ठित करन की क्षमता नही रखता तो क्षम्य है। परन्तु अपनी ही अचिल मूर्ति का परा तले कुचलने क लिए यदि वह जीवित नारी को अपनी कुत्सा म समाधि देना चाह, मधु सौरभ पर पली हुई अपनी ही सष्टि का आत्मसात् करन की इच्छा से नारी के अस्तित्व के लिए अ याद बन जावे तो उसका अपराध अक्षम्य हो उठगा।

भारतीय पुरुष जीवन म नारी का जितना ऋणी है उतना कृतज्ञ नही हो सका। अन्य क्षेत्रो के समान साहित्य म भी उसकी स्वभावगत सकीर्णता का परिचय मिलता रहा है। आज का यथार्थ यदि सनातन अकृतज्ञता का ब्योरेवार इतिहास बनकर तथा पुराने अपकारो की नवीन आवृत्तियाँ रचकर ही उऋण होना चाहता है तो यह प्रवृत्ति वर्तमान स्थिति म आत्मघातक सिद्ध होगी।

किशोरता जीवन का वह वर्षाकाल है, जो हर गढे को भरकर धरती को तरल समता देना चाहता है हर बीज को उगाकर घूलि को हरा भरा कर देन क लिए आतुर हो उठता है। पर वह जडो को गहराई देने के लिए नही रुकता, तट बनाने को नही ठहरता। इसके विपरीत प्रौढता उस शरद जसी रहेगी, जो जल को तट देती है पर सुखाकर रेत भी कर सकती है अच्छे अकुरो को स्थायित्व देती है पर विपली जडो को भी गहराई दे सकती है। साधारणत किशोर अवस्था म स्नेह क स्वप्न कोमल और जीवन क आदर्श सुन्दर ही रहते हैं—न उनम वासना की उत्कट गन्ध स्वाभाविक है, न विकृत मनोवृत्तियो की पकिलता।

इस प्रकार नारी क सम्बन्ध म उच्छृङ्खल वासना, यथार्थवाद की किशोरता नही वरन प्रौढ और विकृत मनोवृत्तियो का अनियन्त्रित उन्माद प्रकट करती है।

किशोर कवि कोई स्वप्न न देखे, ऐसा नियम आलोचक नही बना पाया, पर वह कुरूप स्वप्न ही देखे, ऐसा नियन्त्रण उसके अधिकार मे है। फलत कवि

से अधिक अस्थिरता होती है। डाल म लगे सजीव पत्ते से अधिक खरखराहट भरी गति उस सूखे पत्ते म रहती है जो आंधी पर दिशाहीन सरसर उडता घूमता है। टूटा हुआ तारा स्थायी तारे से अधिक सीधी-तीखी रेखा पर दौडता है।

शरीर से सबल बुद्धि स निश्चित और हृदय स विश्वासी पथिक वही है, जो कहा पवत के समान अडिग रहकर बवडर का आगे जाने देता है और कही प्रवाह के समान चञ्चल होकर शिलाओ को पीछे छाड आता है।

इस दिशा म आलाचक का कत्त म जितना महत्त्वपूर्ण था उतने उत्तरदायित्व के साथ उसका निर्वाह न हो सका।

छायावाद को ता आरम्भ म कोई सहृदय आलाचक ही नहीं मिल सका। द्विवेदी-युग के संस्कार लेकर जो आलोचना चल रही थी, उसने नवीन कवियो को विक्षिप्त प्रमाणित करने मे सारी शक्ति लगा दी और नये कविया ने अपन कठिनहृदय आलोचको को प्राचीनता का भग्नावशेष कहकर सतोष कर लिया। जब यह कवि अपने विकास के मध्याह्न म पहुँच गये तब उन्हे भक्त मिलना ही स्वाभाविक हा गया।

छायावाद एक प्रकार से अनातकुलशील बालक रहा जिसे सामाजिकता का अधिकार ही नही मिल सका। फलत उसने आकाश, तारे फूल निर्झर आदि से आत्मीयता का सम्बन्ध जोडा और उसी सम्बन्ध को अपना परिचय बनाकर मनुष्य के हृदय तक पहुचने का प्रयत्न किया। आज का यथार्थवाद, बुद्धि और साम्यवाद का ऐसा पुत्र है जिसके आविर्भाव के साथ ही आलोचक जन्मकुण्डली बना बनाकर उसके चक्रवर्तित्व की घोषणा म व्यस्त हो गये। स्वय उसके जीवन और विकास के लिए कैसे वायुमण्डल कैसी धूप छाया और कितने नीर क्षीर की आवश्यकता होगी इसकी उन्हे चिन्ता नहा।

आज के कवि और आलोचक की परिस्थितियो म विशेष अतर है। कविया म एक दो अपवाद छोडकर शेष एसी अनिश्चित स्थिति म रहे और रहते आ रहे हैं जिसमे न लिखने का अनिवाय परिणाम उपवास चिकित्सा है। इसके विपरीत आलोचका मे दो एक अपवाद छोडकर शेष की स्थिति इतनी निश्चित है कि लिखना, अध्यापन और स्वाध्याय का आवश्यक फल हो जाता है। वे अपने स उच्च वग का गृह परिग्रह जीवन सम्बन्धी सुविधाएँ देखकर खिन्न होते हैं अवश्य पर यह खिन्नता जीवन की विशेष गहराइ से सम्बन्ध नही रखती अत उनका काय प्रस्ताव के अनुमोदन से अधिक महत्त्व नही रखता।

एक दीघकाल से हमारा बुद्धिजीवी वग जीवन के स्वाभाविक और सजीव

स्पर्श से दूर रहने का अभ्यस्त हो चुका है। परिणामत एक ओर उसका मस्तिष्क विचारो की व्यायामशाला बन जाता है और दूसरी ओर हृदय, निर्जीव चित्रो का सग्रहालय मात्र रह जाता है। आलोचक भी इसी वर्ग का प्रतिनिधि होने के कारण पूँजीवाद और जीवन का दारिद्रय साथ लाये विना न रह सका। जीवन की ओर लौटने की पुकार उसकी ओर से नही आती, क्योकि ऐसी पुकार स्वय उसी के जीवन को विरोधाभास वना देगी। व्यावहारिक धरातल पर भी वह, एक अथक विज्ञादैपण के अतिरिक्त कोई निश्चित कसौटी नही दे सका, जिस पर साहित्य और काव्य का खरा-खोटापन विश्वास के साथ परखा जा सके।

समाज के विभिन्न स्तरो से उसका सम्पर्क इतना कम और पीडित वर्ग से उसका परिचय इतना वौद्धिक है कि व्यक्तिगत सिद्धान्त-प्रियता, समष्टिगत जीवन की उपेक्षा वन जाती है। पीडित वर्ग की पूँजी से चाहे जितना व्यक्तिगत व्यापार चले, उसका हृदय नही कसकता, गति के वहाने चाहे जीवन ही कुचल दिया जावे, पर उसका आसन नही डोलता, यथार्थ के नाम पर नारी का क्रूर चीरहरण होता रहे, पर वह धृतराष्ट्र की भूमिका नही छोड़ सकता।

उसका कर्तव्य वैसा ही निश्चित और एकरस है, जैसा शस्त्र रखने का लाइसेन्स देनेवाले का होता है। लेनेवाला यदि निश्चित नियमो की परिधि मे आ जाता है, तो वह शस्त्र पाने का अधिकारी है, चाहे वह उसे चीटी पर चलावे, चाहे तारे पर और चाहे मारने के लिए कुछ न रहने पर आत्मघात करे। देनेवाले पर इसका लेशमात्र भी उत्तरदायित्व नही। ज्यो-ज्यो आलोचक मे महाजन का तकाजेभरा आत्मविश्वास वढता जाता है, त्यो-त्यो कवि मे ऋणी का वहाने भरा दैन्य गहरा होता जा रहा है। नया कवि अपने अनेक वाणी मे वोलने वाले नये आलोचक से उतना ही आतकित है, जितना दरवारी कवि, राजा के षड्यन्त्रकारी मन्त्री से हो सकता था। ऐसी स्थिति मे साहित्य का स्वस्थ विकास कुछ सन्दिग्ध हो उठता है।

आज का प्रगतिवाद मार्क्स के वैज्ञानिक भौतिकवाद से प्रभावित ही नहीं, वह काव्य मे उसका अक्षरश अनुवाद चाहता है, अत. साहित्य की उत्कृष्टता से अधिक महत्त्व सैद्धान्तिक प्रचार को मिल जाना स्वाभाविक है। गान्धीवाद की उदात्त प्रेरणा, छायावाद का सूक्ष्म सौन्दर्य, रहस्यवाद का भाव-माधुर्य आदि देखने का उसे अवकाश नही, क्योकि वह राजनीतिक दलो के समान साहित्यकारो का विभाजन कर अपने पक्ष मे वहुमत और दूसरे पक्ष मे अल्पमत चाहता है।

इस प्रवृत्ति का परिणाम स्पष्ट ही है। प्रथम कोइ महान साहित्यकार ऐसे सकीण घेरे म ठहर नही सकता और दूसरे बहुमत की चिन्ता म साहित्य के नाम पर ऐसी भरती स्वाभाविक हो जाती है, जसी आज बिल्ला लगाने म निपुण, पर कत य मे अनिपुण सिविक गाड स की हो रही है।

गा धीवाद के राजनीतिक पक्ष ने भी श्रेष्ठ साहित्यकारो को बाँधन म असमथ होकर अपने प्रचार के लिए एक विशेष साहित्यक वग सगठित कर लिया था, जा प्रथम श्रेणी का साहित्य देने म समथ न हो सका। पर गा धीवाद वाह्यदृष्टि स राष्ट्र का सयुक्त मोर्चा है और आन्तरिक दृष्टि से भारतीय सस्कृति का पुनर्जागरण है। इसी से किसी भी विचार का कलाकार एक न एक स्थल पर उसका समथक है और किसी न किसी अश तक उससे प्रभावित है।

इसके विपरीत साम्यवाद अब तक एक राजनीतिक परिधि म सीमित है और विशेष विचारधारा का प्रतिनिधित्व कर सकता है। दूसरी विचार धाराओ से विरोध, भारतीय जीवन स विच्छिन्नता और विदेशीय साहित्य के विज्ञापन पर अपनी सस्कृति के सम्ब ध म विशेष अज्ञ यक्तियो की उपस्थिति ने इस पक्ष को एक विशेष भूमिका दे डाली है। उसकी स्थिति एसी ही है, जसी पराशूट स इस धरती पर उतर आनेवाल विदेशी की हो सकती थी, जिसकी मित्रता म विश्वास करके भी हम जिसके इस देश-सम्ब धी ज्ञान म सन्देह करगे जिसे अपनी सस्कृति और जीवन का मूल्य समझाने का प्रयत्न करग और न समझने पर खीझ उठग।

प्रगतिवादी साहित्य इस विचारधारा का साहित्यिक पक्ष है अत उसके सम्ब ध म भी एक सदिग्ध मनावृत्ति स्वाभाविक हा गयी। सगठन की दृष्टि स इसके समथका ने आधुनिक हि दी-साहित्य म प्रतिष्ठित अ य विचार धाराओ को काइ महत्त्व दना स्वीकार नही किया, अत उनके निर्माण का लक्ष्य वयक्तिक इच्छा के रूप म उपस्थित हो सका। वयक्तिक इच्छा यक्तिगत शक्ति और परिस्थिति स सीमित है, पर सामूहिक निर्माण का लक्ष्य शक्तियो क एकीकरण और परिस्थितियो क साधारणीकरण द्वारा यापकता चाहता है। समष्टिगत कल्याण-सम्ब धी मतभेद जीवन की गहराई म किस प्रकार एकता पा लते हैं, इसका उदाहरण किसी भी विकासशील जाति म मिल सकेगा जहाँ सामूहिक सकट-काल म परस्पर विरोधी राजनीतिक पक्ष तक निर्विवाद एक हो जात हैं।

साहित्य म इस नवीन धारा न अपना उत्कृष्ट निर्माण सामन रखन से पहल ही उत्कृष्ट साहित्य सृजन कर चुकनवाला विचार धाराओ की अनुपयोगिता

प्रमाणित करने मे सारी शक्ति लगा दी, फलत. साहित्यिक वातावरण विवाद से छिन्न-भिन्न होने लगा।

उत्कृष्ट सृजन ही किसी विचार-धारा की उत्कृष्टता का प्रमाण है, पर जब वह ऐसा प्रमाण न देकर अपने उत्कृष्ट सृजन के लिए दूसरो को नष्ट करने की शर्त सामने रखती है, तब स्वय अपनी हार मान लेती है। छायावाद की चिता चुन जाने पर ही नये काव्य को सुन्दर शरीर प्राप्त हो सकेगा, सजीव गान्धीवाद की शव-परीक्षा हो जाने पर ही नवीन साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा होना सम्भव है, ऐसी धारणाएँ शक्ति से अधिक दुर्बलता की परिचायक तो है ही, साथ ही वे एक अस्वस्थ मानसिक स्थिति का परिचय देती है।

विवाद जीवन का चिन्ह है और निर्जीवता का भी। लहरे बाहर से विविध किन्तु भीतर से एक रहकर जल की गतिशीलता प्रकट करती है, पर सूखते हुए पक की कठिन पडनेवाली दरारे भीतर सूखती हुई तरल एकता की घोषणा है। इस सत्य को हम जीवन के अन्य क्षेत्रो मे भी देख चुके है। हम राजनीतिक और सामाजिक सगठन करने चले और इतने बिखर गये कि किसी प्रकार का भी निर्माण असम्भव हो गया। हमने हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रश्न उठाया और विवादो ने पाकिस्तान जैसी गहरी खाई खोद डाली। हम हिन्दी-उर्दू को एक करने का लक्ष्य लेकर उनकी विवेचना करने लगे और दो के स्थान मे तीन भाषाओ की सृष्टि कर बैठे।

हमारे साहित्यिक विवाद इन सब अभिशापो से गुरु और दु खद है, क्योकि उनके मूल मे जीवन की ऊपरी सतह की विविधता नही है, वरन् वे उसकी अन्तर्निहित एकता का खण्डो मे बिखर कर विकासशून्य हो जाना प्रमाणित करते है। साहित्य गहराई की दृष्टि से पृथ्वी की वह स्थूल एकता रखता है, जो बाह्य विविधता को जन्म देकर भीतर एक रहती है और ऊँचाई की दृष्टि से वायुमण्डल की वह सूक्ष्मता रखता है, जो ऊपर से एक होने पर भी प्रत्येक को स्वतन्त्र विकास देता है। सच्चा साहित्यकार भेदभाव की रेखाएँ मिटाते-मिटाते स्वय मिट जाना चाहेगा, पर उन्हे बना-बनाकर स्वय बनना उसे स्वीकार न होगा।

विकृतियो से सम्बन्ध रखनेवाले उत्तेजक यथार्थ की हम उपेक्षा कर सकते है, क्योकि जीवन के स्वस्थ होते ही यह प्रवृत्ति समाज विरोधिनी बन जायगी। कोई भी सशक्त विकासशील जाति अपने नागरिक और भावी नागरिक को ऐसी अस्वस्थ मानसिक स्थिति मे जीने का प्रोत्साहन देकर कोई नूतन निर्माण नही कर सकती। पर साम्यवाद से प्रभावित यथार्थ के सामने अनेक प्रश्न है।

यह हमारे सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति कैसा दृष्टिकोण रखेगा, समाज के मूलाधार स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को वह किस रूप में उपस्थित करेगा, जनसाधारण के जीवन तक पहुँचने के लिए वह कौन सा माध्यम स्वीकार करेगा आदि जिज्ञासाएँ समाधान चाहती हैं।

पहले प्रश्न का उत्तर अब तक स्पष्ट नहीं हो सका, अतः पाकिस्तान के समान वह भय की कल्पना से बँध गया है। हमारे पास दर्शन, काव्य और कलाओं का बहुत समृद्ध कोष है जो किसी मूल्य पर भी छोड़ा नहीं जा सकता। छायावादी जंगल पलायनवादी हैं, सूर-तुलसी सामन्त युग के प्रतीक हैं, कबीर जैसे रहस्यवादी विक्षिप्त हैं, कालिदास जैसे कवि राजदरबार के भाट मात्र हैं, वेदकालीन ऋषि प्रकृतिपूजक या अतिरिक्त और कुछ नहीं, आदि तर्क नये युग के अस्त्र-शस्त्र बन गये हैं। अवश्य ही आज का सच्चा प्रगतिवादी यह नहीं कहेगा, पर जब तक वह अपने ज्ञान लव दुर्विदग्ध समर्थकों को इस प्रकार कहने देता है और अपना दृष्टि बिन्दु स्पष्ट रूप से नहीं उपस्थित करता, तब तक इसका उत्तरदायित्व उसी पर रहेगा। इन सब हीन भावनाओं के पीछे हमारी दीर्घकालीन पराधीनता, शिक्षा की अपूर्णता, जीवन की समष्टिगत विकृति आदि की पटभूमिका है, पर यह अस्वस्थ मानसिक स्थिति यदि साहित्य में भी परिष्कार न पा सके तो हम विकास पथ पर पग नहीं रख सकते। हमारा मूल्य घटाकर दिखाने में जिन विदेशियों का लाभ है, जब वे भी ऐसा करने में असमर्थ रहे, तब उनके साहित्य संस्कृति से परिचित और अपने से अपरिचित व्यक्ति केवल जन्म से भारतीय होने के नाते ऐसा प्रयत्न करके अपना ही मूल्य खो बैठते हैं।

विविध युगों में कला और काव्य का जो उत्कृष्ट रूप हमें मिलता है, उससे हमारा विरोध नहीं हो सकता और न होना चाहिए। विरोध हमारा उस व्यवस्था से रहेगा जिसने इन मूल्यों को कुछ व्यक्तियों तक सीमित रखा। नवीन व्यवस्था में हम कुरूप को सुन्दर नहीं कहेंगे, प्रत्युत सौन्दर्य को सामान्यता देकर सब तक पहुँचाएंगे। अतः हमारा कार्य भार दुगना हो जाता है। प्रत्येक युग के सौन्दर्य का मूल्यांकन और आज की परिस्थितियों में उसकी समुचित प्रतिष्ठा करना और उसे नवीन व्यवस्था की प्रेरणा बनाकर नयी दिशा देना सहज नहीं।

सनातन, चिरन्तन, शाश्वत जैसे शब्दों से नये युग को खीझ है, पर उन्हें ठीक समझे बिना जीवन की मूल प्रेरणा में विश्वास कठिन होगा। सनातन से अस्तित्वमात्र का बोध होता है, चिरन्तन उसके बहुत काल से चले आने को

सूचित करता है और शाश्वत् में हमे जीवन की मूल चेतना की क्रमवद्धता का सकेत मिलता है।

एक व्यक्तित्व की अवधि है, पर उस अवधि को मनुष्य किसी महान् आदर्श के लिए असमय ही खो सकता है, दूसरो के सुख की खोज मे अनायास गँवा सकता है। इस खोने का महत्त्व तव प्रकट होता है, जव हम जानते है कि व्यक्ति का अस्तित्व न रहने पर भी समष्टि का अस्तित्व हे, यह अस्तित्व चिरकाल से विकास पाता आ रहा है और इस अस्तित्व की अन्तश्चेतना आगे भी रहेगी। आज का मनुष्य अपने यथार्थ को, आगामी मनुष्य के कल्पित सुखो को निश्चित करने के लिए छोड़ सकता है, क्योकि उसे विश्वास है कि जिसके लिए कल्याण खोजने मे वह मिटा जा रहा है, वह मनुष्य कल भी रहेगा, परसो भी रहेगा और भविष्य मे भी रहेगा। अँग्रेजी के 'The King is dead, long live the King' की तरह अपनी इकाई मे मनुष्य मरता है, पर समष्टि की इकाई मे वह अमर है।

कला चिरन्तन है, सौन्दर्य सनातन है, सत्य शाश्वत् है, आदि मे कोई रूढिगत अन्धविश्वास न होकर मनुष्य की मूलप्रवृत्तियो की निरन्तरता का सकेत है, क्योकि सभी युगो मे मनुष्य अपने जीवन और उसे घेरनेवाली भूतप्रकृति को व्यवस्थित करता रहा है, उनके सामञ्जस्य पर प्रसन्न होता रहा हे और जीवन के विकास के लिए उनके निरपेक्ष मूलतत्वो की खोज मे लगा रहा है।

कला और सौन्दर्य, जीवन के परिष्करण और उससे उत्पन्न सामञ्जस्य के पर्याय है। इन दोनो की वाह्य रूपरेखा मनुष्य के विकास की सापेक्ष और परिस्थितियो से सीमित रहेगी, पर जीवन की अन्तश्चेतना मे इन्हे निरपेक्ष व्यापकता के साथ ही स्थिति मिलती है। मनुष्य अपने ज्ञान से अर्जित विकास के द्वारा कला को विविधता और सामञ्जस्य को परिष्कार दे सकता है, पर इनकी ओर आकर्षण जीवन के समान रहस्यमय और पुराना है। अनेक वार कलम करके लगाया हुआ और विकास की दृष्टि से पूर्ण विकसित गुलाव ही सुन्दर नही, शिला के नीचे छिपकर खिला पुष्पशाखी भी सुन्दर है। वास्तु-कला के चरम विकास का निदर्शन ताज ही सुन्दर नही, आदिम युग के मनुष्य की गहन कन्दरा मे भी गम्भीर सौन्दर्य मिलेगा। देशविशेष और कालविशेष की कला और सौन्दर्य मे वाह्य विभिन्नता रहेगी, पर उन्हे जन्म देने वाली प्रवृत्ति मनुष्य-जाति के साथ उत्पन्न हुई है और उसकी समाप्ति के साथ समाप्त होगी। इस प्रवृत्ति को सनातन की सज्ञा देकर हम उसके अस्तित्व को स्वीकार

करते हैं और चिरन्तन कहकर उसका, जीवन की चिरसंगिनी होने का अधिकार मानते हैं।

जीवन को अव्यक्त भाव से विकास देने वाले तत्त्वों को खोजने की प्रवृत्ति भी कभी नहीं मिटी और यह मूलतत्त्व भिन्न भिन्न नामों में भी वैसे ही एकत्व बनाये रहे जैसे अनेक सम्बन्धों में बँधा हुआ सामाजिक व्यक्ति एक ही रहता है। जीवन की समन्वयात्मक व्यवस्था और साहित्य का सामञ्जस्य मूलक सौन्दर्य बाहर से जीवन के दो भिन्न छोर हैं पर उन दोनों का आधार भूत सत्य, जीवन की वही अन्तश्चेतना है जो उसे निरन्तर विकास के लिए बाध्य करती है। मनुष्य का जीवन चाहे कल्याण के राजमार्ग में चला चाहे दुःख के वन में भटका पर यह अन्तश्चेतना आगे बढ़ने की प्रेरणा से स्पन्दित होती रही अतः उसे शाश्वत् कहकर हम मनुष्य की भूलों को शाश्वत नहीं कहते।

काव्य और कला का मूलाधार यही अन्तश्चेतना है। इसी से वे सब युगों में समान रूप से सम्मान पाते रहते हैं।

साहित्य और कला की सार्वभौमिकता प्रमाणित करने के लिए हम रूस से अधिक उपयुक्त देश नहीं मिल सकता, क्योंकि आज का आलोचक उस पर साम्राज्यवादी देशों की विलासप्रियता का आरोप नहीं करेगा अध्यात्मप्रधान जाति के अन्धविश्वास का लाञ्छन नहीं लगायेगा और तानाशाही परवशता का आक्षेप अनुचित मानेगा। पर वहाँ आज युद्ध के धुएँ से भरे आकाश के नीचे अस्त्र शस्त्रों की झनकार से मुखरित दिशाओं के बीच में साम्राज्यवादी देश के शेक्सपियर के नाटक खेले जाते हैं अध्यात्मवादी भारत के रामायण-महाभारत जैसे ग्रन्थों के अनुवाद होते हैं रहस्यद्रष्टा कवीन्द्र की रचनाएँ पढ़ी जाती हैं नात्सियों के वैगनर को कलाकारों में स्थान दिया जाता है और गोर्की के समान ही टाल्सटाय महत्त्व पाता है। वहाँ का श्रमजीवी अन्य स्वाधीन देशों के भिन्न विचार धारावाले साहित्य को ही महत्त्व नहीं देता भारत जैसे अध्यात्मवादी देश की उन उपेक्षित निधियों का भी ऊँचा मूल्य आँकता है, जो नवीनता के उपासकों के सामने घिसी पिटी संस्कृति और पुराणपन्थी साहित्य के रूप में उपस्थित होती हैं। इस विरोधाभास में एक ओर एक जीवित जाति और विकासशील राष्ट्र की निष्पक्ष उदारता का स्वर है और दूसरी ओर एक गतिरुद्ध जाति की दास प्रवृत्ति बोलती है।

दुर्बलता शक्ति का आहार है पर हमारी दुर्बलता जब शक्ति को खा डालने लगी तब दुर्बलता का चिर जीवन निश्चित है और शक्ति की मृत्यु

अवश्यमभावी। इस मनोवृत्ति को आश्रय देकर नवीनता का उपासक एक नये अभिशाप की सृष्टि करेगा।

जीवन उस वृक्ष के समान है, जो कहीं जड़ में अव्यक्त है, कहीं पत्तों में लहलहाता है, कहीं फूलों में सुन्दर है, कहीं फल में उपयोगी है और कहीं बीज में सृजनशील है। कला और साहित्य में जीवन के रहस्य, सजीवता, सौन्दर्य, उपयोग और सृजनशक्ति का एकीकरण रहता है, अत. उसका स्रष्टा साम्य का अन्वेषक है, भेद-विरोध का आविष्कारक नहीं। एक ही भाव या विचार-धारा का प्राधान्य साहित्य और कला का लक्ष्य नहीं, पर भाव और विचार की असख्य विविधताएँ चरम बिन्दु पर पहुँचकर वैसे ही एक हो जाती है जैसे मनुष्य के स्वप्न, कल्पना, इच्छा, तर्क, विश्वास आदि की अनेकता उनके विकास में एकता पा लेती है।

दार्शनिकों, विचारकों और साधकों के समान ससार भर के कलाकारों की भी एक जाति और एक ही वर्ग है। जीवन के निम्नतम स्तर से आनेवाला कलाकार अपनी परिस्थिति से ऊपर उठकर और उच्चतम से आनेवाला अपनी परिस्थिति से नीचे उतरकर जीवन के उस धरातल पर ठहरता है, जिसमें ऊँचाई-नीचाई की विषमता न होकर सामञ्जस्यमयी विविधता मात्र सम्भव है। कला के पारस का स्पर्श पा लेनेवाले का कलाकार के अतिरिक्त कोई नाम नहीं, साधक के अतिरिक्त कोई वर्ग नहीं, सत्य के अतिरिक्त कोई पूँजी नहीं, भाव-सौन्दर्य के अतिरिक्त कोई व्यापार नहीं और कल्याण के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं। इसी से मानसकार के ब्राह्मणत्व, पाण्डित्य और आदर्शवाद को जिस धरातल पर स्थिति मिली है, कबीर का अशिक्षित जुलाहापन और अटपटे रहस्यभाव भी उसी पर प्रतिष्ठित किये गये हैं।

नवीन विचारधारा को अपना पथ परिष्कृत करने के लिए साहित्य और कला की अन्तर्वर्तिनी एकता को तत्त्वत समझने की आवश्यकता रहेगी।

स्त्री और पुरुष के सामाजिक जीवन की विषमताओं से सम्बन्ध रखनेवाले यथार्थ की समस्या भी अब तक सुलझी नहीं। हाँ, उसने श्लीलता-अश्लीलता-सम्बन्धी अनेक विवादों को जन्म अवश्य दे दिया है। व्यापक अर्थ में यह भाव जीवन के प्रति सम्मान और असम्मान के पर्याय हो सकते हैं। जिस भाव, विचार, सकल्प, सकेत और कार्य से जीवन के प्रति सदिच्छा नहीं प्रकट होती, वे सब अश्लील की परिधि में रक्खे जा सकेंगे। जो चिकित्सक रोगी के शरीर की परीक्षा करता है, वह अश्लील नहीं कहा जाता। पर यदि राह में कोई उसी रोगी की पगड़ी उतारकर कहे कि जब चिकित्सक को पीठ दिखाने में लज्जा

नही ग्रायी, तब यहा सिर उघड जाने म क्या हानि है, तो इस काय को श्लील नही कहा जा सकेगा। चिकित्सक रोगा का ज्ञान रखता है और रोगी को स्वस्थ करने की इच्छा से रोग निदान के लिए प्रेरित हाता ह अत उसके व्यवहार मे जीवन के महत्त्व की स्वीकृति है पर दूसरा अपने मनोविनोद के लिए अय व्यक्ति को उपहासास्पद बनाना चाहता है फलत उसके काय मे जीवन के महत्त्व की अस्वीकृति है।

जीवन के महत्त्व की स्वीकृति और अस्वीकति के भावो के बीच म विभाजक रेखा सूक्ष्म है। इसीसे मूलभाव को ध्यान म रखते हुए एक व्यवहार-परम्परा बना ली गयी। जसे-जसे मनोभावो म सूक्ष्म परिष्कार आता जाता है वसे वस मानवीय सम्बधा मे सस्कार होता चलता है जसे जसे समाज का विस्तार बढता जाता है वसे वसे यवहार क्रम विविधता म फलता जाता है। पुरुष और स्त्री की पाशविक सहज प्रवत्ति वयक्तिक प्रम मे परिष्कृत होकर सास्कृतिक विकास का आधार बन सकी और सस्कृति से व्यवहार-जगत शासित हो सका। युग विशेष के नतिक नियम तत्कालीन समाज उसके पीछे छिपे मानवीय सम्बध के मूलगत मानव प्रकृति के परिष्कार का परिचय दगे। पर सारी विविधता के भीतर जीवन के महत्त्व का स्वीकृति या अस्वीकृति किसी न किसी मात्रा म अवश्य मिलेगी, क्योकि जीवन जिस परिष्कार क्रम तक पहुचा हागा तत्सम्बधी महत्व की भावना भी उसी सीमा तक विकास कर चुकी होगी और अवना उसी सीमा तक दण्डनीय मानी जाती हागी।

यथाथवाद के सम्बध म अश्लीलता का जा प्रश्न उठाया जाता है, वह रहस्यवाद और आदशवाद के सबध मे नही उठता क्योकि उनम पहला, प्रवत्तियो का उदात्तीकरण हाने के कारण जीवन के महत्त्व का घटा नही सकता और दूसरा जीवन की पूर्णता की कल्पना के कारण उसे निम्नस्तर पर रखने को स्वतत्र नहा। रहस्यवादी स्वय नारी क आत्मसमपण का सहारा लेकर परम तत्त्व म अपने आपको खो दना चाहता है अत उसम पुरुष और नारी का रूप चरम परिष्कार पा लेता है। आदशवादी जीवन को पूर्णतम रूप म उपस्थित करने का लक्ष्य रखता है अत उसम मानव मानवी तथा मानवीय सम्बध परम उज्ज्वल हो उठते हैं।

यथाथवाद जीवन का इतिवृत्त हाने के कारण प्रकृति और विकृत दोना के चित्र दने क लिए स्वतत्र है पर जीवन म विकृति अधिक प्रसारगामिनी है परिणामत यथाथ का रखाओ म वही बार-बार यक्त हाती रहती है। सच्चा यथाथवादी प्रकृति के चित्रण म जीवन का स्वस्थ विकास दने वाली शक्तियो का

प्रगति देता है और विकृति की रेखाओ मे उसका लक्ष्य, विरोध द्वारा प्रकृति की पुनर्स्थापना रहता है।

गोताखोर तट पर कीचड और घोघो का ढेर लगाने के लिए समुद्र की अतल गहराई मे नही धँसता, पृथ्वी पर मिट्टी के नये पहाड बनाने के लिए खानक खान नही खोदता। एक उस मोती को निकाल लाता है, जिससे ससार अपरिचित था और जिसे पाकर मनुष्य खारे जल और भयानक जल-जन्तुओ से भरे समुद्र को रत्नाकर का नाम देता है; दूसरा पृथ्वी के अन्धकारमय गर्त्त से वह हीरा खोज लाता है, जिसका अस्तित्व अब तक छिपा था और जिसे देकर धरती वसुन्धरा की सज्ञा पाती है।

विकृत यथार्थ का अन्वेषक प्रकृति के किसी अमूल्य सत्य की प्राप्ति के लिए विकृति को स्वीकृति देता है--केवल उसकी विषमता और कुत्सा का एकत्रीकरण उसका लक्ष्य नही रहता। भारत के सम्बन्ध मे विविध गर्हित विकृतियो का सग्रह करनेवाली मिस मेयो कलाकारो की पक्ति मे न खड़ी हो सकेगी, लन्दन के विविध और विकृत रहस्यो का पता लगाने वाला रेनाल्ड ससार के श्रेष्ठ साहित्यकारो मे स्थान न पा सकेगा।

विकृति दो प्रकार से चित्रित की जा सकती है--एक तो ऐसी तटस्थता के साथ, जो लेखक के भाव के स्पर्श के बिना ही हिप्नोटिज्म से अचेत व्यक्ति के समान स्वय सब कुछ कह दे और दूसरे प्रकृति की व्यापक छाया के नीचे, जिससे वह अपनी सामञ्जस्य-विरोधिनी स्थिति प्रकट करके प्रकृति की ओर प्रेरित करे।

जब यथार्थवादी प्रकृति की सामञ्जस्यमयी छाया से बाहर अपनी रसमग्नता के साथ विकृति को चित्रित करता है, तब उसकी लिप्सा ही व्यक्त होती है और यही लिप्सा पाठक के हृदय मे प्रतिबिम्बित हो उठती है।

इस सम्बन्ध मे यह जानना उचित है कि विकृति के ज्ञान और विकृति की अनुभूति मे विशेष अन्तर रहता है, क्योकि ज्ञान परोक्ष हो सकता है, पर अनुभूति नही होती। हमे हत्या का ज्ञान हो, तो वह ज्ञान हमारे मानसिक जगत् पर गहरी छाप नही छोडेगा, पर हत्या की अनुभूति होने पर हम हत्याकारी की मानसिक स्थिति मे जीवित होगे; अत इसका सस्कार बहुत स्थायी रहेगा।

हत्या जीवन की एक अस्वाभाविक और विकृत स्थिति का परिणाम है। वास्तविक जीवन मे जब हम उसे बिना किसी माध्यम के नग्न रूप मे प्रत्यक्ष पाते है, तब हमारे हृदय मे उसके प्रति जुगुप्सा और परिस्थितियो के अनुसार हत्याकारी के प्रति घृणा, क्रोध या करुणा का भाव जाग उठता है। यही भाव

तब जागेंगे, जब यथार्थवादी कलाकार उसे तटस्थ रूप में उपस्थित करेगा। यदि वह इस विकृति को जीवन के प्रकृत सामञ्जस्य की छाया में अंकित करे, तो इसकी पट भूमिका में हम जीवन के स्वस्थ रूप का संकेत भी मिलेगा। पर जब कलाकार एक अस्वस्थ रस निमग्नता के साथ हत्या का चित्रण करता है, तब हमारे मन में न स्वाभाविक घृणा जागती है न जीवन की सहज संवेदनीयता से उत्पन्न होनेवाली करुणा। हम उस चित्रण में एक ऐसी अस्वस्थ उत्तेजना का अनुभव करते हैं जिसका संस्कार हमें ऐसे ही चित्रों की खोज में भटकाता रहता है। अन्य विकृतियों के चित्रण के सम्बन्ध में भी यही सत्य है।

पुरुष और नारी के सम्बन्ध की विषमता से उत्पन्न यथार्थ इससे शतगुण उत्तेजनामूलक हो सकता है क्योंकि हत्या सामान्य प्रवृत्ति न होकर वैयक्तिक विकृति है पर वासना सहज प्रवृत्ति ही कही जायगी। यथार्थ का कलाकार यदि साधक नहीं, तो तटस्थ निर्विकारता उसका अमोघ अस्त्र है। जिसके पास तटस्थता नहीं वह यथार्थ का चितेरा अपनी ही असंयत इच्छाओं की पूर्ति के लिए विकृत चित्रों की असंख्य आवृत्तियाँ करता रहेगा और उन चित्रों का दर्शक अपनी सहज प्रवृत्ति को अनायास अस्वाभाविक उत्तेजना में बदलते बदलते उन्हीं विकृतियों का उपासक हो उठेगा। उत्तेजक यथार्थ का चितेरा और उन चित्रों का दर्शक दोनों उन विकृत चित्रों के अभाव में उसी अशक्ति का अनुभव करेंगे, जो ज्वर उतर जाने पर रोगी और होश में आ जाने पर मद्यप में स्वाभाविक है।

इस यथार्थ के मूल में कहीं तो हमारे समाज की समष्टिगत विकृति है और कहीं यूरोप के पतनशील साहित्य में मिलनेवाले वे फ्रायडियन सिद्धान्त हैं जिनके सम्बन्ध में भौतिकवादी क्रान्तिद्रष्टा का कथन है—

It seems to me that these Flourishing sexual theories which are mainly hypothetical and often quite arbitrary hypotheses arise from the personal need to justify personal abnormality or hypertrophy in sexual life before bourgeois morality and to entreat its patience '—Lenin

(मुझे तो जान पड़ता है कि स्त्री-पुरुष से सम्बन्ध रखनेवाले यह प्रचलित सिद्धान्त विशेषतः कल्पित और प्रायः निरंकुश अनुमान मात्र हैं। वे व्यक्तिगत जीवन की वासना जनित उच्छृंखलता और अस्वाभाविकता को मध्यवर्गीय नैतिकता के निकट क्षम्य बनाने और उसकी सहिष्णुता अक्षुण्ण रखने की आवश्यकता से उत्पन्न हुए हैं।)—लेनिन

इस दृष्टि से हमारी स्वभावगत विकृति से अधिक हानिकारक वह फ्रायडियन प्रवृत्ति है, क्योंकि वह व्यक्ति की विकृति को सरक्षण ही नही देती, वरन् उसे सामान्य बनाने के लिए एक कल्पित सिद्धान्तवाद भी देती है।

समाज मे स्त्री-पुरुष का परस्पर आचरण चरित्र का प्रधान अग है और इस चरित्र के मूल मे उनकी वह जातिगत चेतना रहती है, जिसके स्वस्थ रहने पर ही चरित्र का स्वास्थ्य निर्भर है। यदि इस चेतना को, स्वस्थ और सन्तुलित विकास के उपयुक्त वातावरण न देकर चरित्र-सम्बन्धी विकृतियो से घेर दिया जाता है, तो यह जातिगत चेतना विकृत और अस्वाभाविक होने लगती है और परिणामत चारित्रिक विकृतियो का क्रम निरन्तरता पाता रहता है।

सभी युगो के पतनशील समाज मे चरित्र सम्बन्धी विकृतियाँ सीमातीत हो जाती है और उनके सुधार के नाम पर प्रचलित विज्ञापनो का परिणाम चक्रवृद्धि की तरह एक-एक विकृति को अनेक बनाता रहता है। इन विकृतियो को कला और साहित्य मे विशेप रसमय बनानेवाले व्यक्ति या तो व्यक्तिगत विकृतियो से पीडित रहते है या दूसरो की दुर्बलता का दुरुपयोग करके अपना स्वार्थ-साधन चाहते है।

भौतिकताप्रधान सोवियत शासन-व्यवस्था ने पुरुष और नारी की जातीय चेतना को स्वस्थ विकास देने के लिए ही ऐसे चारित्रिक अपराधो का विज्ञापन रोक दिया है। नियम का कारण हमे इन शब्दो मे मिलता है—

'The secret trial of sexual cases is based on the psychological principle that publicity for such cases is liable to arouse a morbid concentration on such questions, in the public mind with anti social effects on behaviour ?'

(स्त्री-पुरुष के चरित्र-सम्बन्धी अभियोगो का निर्णय गुप्तरूप से होता है। इसका कारण वह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है, जिसके अनुसार इस प्रकार का विज्ञापन जनता के आचरण पर समाज-विरोधी प्रभाव डालता हुआ उसके ध्यान को ऐसे प्रश्नो मे अस्वाभाविक रूप से केन्द्रित कर देता है।)

जीवन के नूतन निर्माण के समय ऐसी अस्वस्थ मानसिक स्थिति चिन्ताजनक है, इसे अध्यात्मवादी भारतीय साधक ही नही, क्रान्ति का अनीश्वरवादी सूत्रधार और नवीन रूस का निर्माता लेनिन भी मानता है—

'Youth movement too is attacked with the disease of modernity in its attitude towards sex questions and in being exaggeratedly concerned with them. The present widespread

बनाजाता भी है और रीतिकालीन नायिकाओ का आधुनिक सस्करण भी। वह मनुष्य है, पर उसकी मनुष्यता का कोइ भी मूल्य नहा, उस बुद्धि का वरदान प्राप्त है, पर उसका किसा के भी निकट उपयाग नहा, उसके पास अमूल्य हृदय है, पर उसक वात्सल्य, सहानुभूति जस भावो के लिए भी कही अवकाश नही आदि प्रश्न सिद्धान्तवाद के भीतर उठ सकते ह। पर भावभूमि पर कवि की दृष्टि उसके बाह्य सौन्दय म ही केन्द्रित रहती है। यदि उस विषाद होता है, तो यह विचार कर कि दरिद्रता इस सौन्दय को असमय मलिन और जजरित कर दगी।

यदि किसी प्रकार दरिद्रता का अभिशाप दूर किया जाय तो यह मानवी मडा पर कटि लचकाती हुई घूमने के अतिरिक्त और किस दशा म उपयोगी सिद्ध होगी एसी शका ही दशक के हृदय म नही उठती। उठे भी क्यो? क्या सौन्दय को सुरक्षित रखना, अपने भीतर, दखने वाले के नित्य अनुरञ्जन का लक्ष्य नहा छिपाय हुए है?

कहन की आवश्यकता नहा कि एसी सौन्दय दृष्टि न ग्रामीण नारी क जीवन का महत्त्व न प्रकट कर नागरिक सौन्दय पिपासा के लिए एक नया निझर खोज निकाला है।

छायायुग क सूक्ष्म सौन्दय म जिन्ह उत्तेजक स्थूल को खोजन का अवकाश नहा मिल सका व यथाथ क सम्बन्ध म सौन्दय दृष्टि नहा रखते। प्रत्युत् जावन के एस विकृत चित्र उनका लक्ष्य रहते हैं, जा उनकी अस्वस्थ प्रवत्तिया का उत्तजित रख सकें। इन नग्न वासना चित्रा का व एस अस्वस्थ उन्माद के साथ अंकित हैं कि करुणा, समवदना जस गम्भीर भावो क लिए कोइ स्थान ही नहा रहता। जिन विकृतियो म नारी क अपमान का ब्यौरा है, उनम तटस्थता और व्यापक सामञ्जस्य भावना क अभाव म नारी के जीवन का कोई महत्त्व प्रकट नहा हो पाता और इस प्रकार व चित्र अश्लील हा जाते हैं। केवल अपमान क ब्यौरे जब विशेष रसमग्नता के साथ दिय जात हैं तब वे अपमान की क्रूरता व्यक्त करन म भी असमथ रहत हैं और अपमान सहन वाल का महत्त्व स्थापित करन का शक्ति भी खो दत हैं।

यदि कोई विशेष रस लकर कह कि अमुक व्यक्ति को एक न गाला दी, दूसर न पाटा, तासर न गदन पकडकर निकाल दिया ता यह अपमान शृङ्खला, अपमान-योग्य व्यक्ति क उचित दण्ड का लखा-जोखा बनकर उपस्थित होगा। व्यक्ति या निर्दोषिता या विशेष महत्त्व क ज्ञान स उत्पन्न दया या सामान्य मानवता प्रकट करन वाला तटस्थता क अभाव म, एस ब्यौरे न अपमानित

व्यक्ति का सामाजिक महत्त्व प्रकट कर सकते हैं, न उसकी व्यक्तिगत विशेषता का पता दे सकते है।

ये विकृतियो के अथक अन्वेषक, निर्धारित मूल्यो के विरोधी और समाज की दृष्टि से विद्रोही है, अत नूतन निर्माण के लिए आवश्यक क्रातिकारी भी हैं, यह धारणा भ्रात है। प्रत्येक जीवन-व्यवसायिनी नारी, प्रत्येक मद्यप, प्रत्येक दुश्चरित्र आदि निश्चित मूल्यो के विरोधी और समाज की दृष्टि से विद्रोही है। पर यह सब क्रान्तिकारी नही कहे जा सकेगे, क्योकि इनका लक्ष्य आत्महत्या है, नव निर्माण नही। क्राति स्वय एक साधना है, अत· उसका साधक जीवन को नये मूल्य और समाज को नया रूप देने के लिए अपने आपको अधिक से अधिक पूर्ण, स्वस्थ और सशक्त बनाने का प्रयत्न करता है, नष्ट करने का नही।

यदि कहा जाय कि हमारे सामाजिक जीवन के कठोर सयम ने सामूहिक रूप से एक अस्वस्थ मनोवृत्ति उत्पन्न कर दी है, तो इस कथन मे सत्य का अश सन्दिग्ध है। यदि यह मान लिया जाय कि ऐसी अस्वस्थ मानसिक स्थितिवाले लेखक लिखते-लिखते प्रगतिशीलता तक जा पहुँचेगे, तो यह अनुमान प्रमाण-हीन है।

हमारी सामाजिक व्यवस्था मे पुरुष सयम के अभाव से पीडित है, सयम से नही, अत असयम से उनका उपचार करना वैसा ही है, जैसे अत्यधिक भोजन से उत्पन्न उदरशूल मे रोगी को मिष्ठान्न खिलाकर स्वस्थ करने का प्रयास।

ऐसी स्थिति मे यथार्थ-चित्रो मे सस्कार की आवश्यकता है, विकार की नही, अन्यथा वे विकृतियो मे ध्यान को एकात रूप से केन्द्रित कर देगे। अस्वस्थ साहित्य का सृजन करते-करते ही यथार्थवादी प्रगति के चरम लक्ष्य तक पहुँच जायँगे, इसे मान लेना यह विश्वास कर लेना है कि एक की ओर चलने वाला चलते-चलते दूसरी ओर पहुँच जायगा। हमारा सामाजिक स्वास्थ्य नष्ट हो गया है, पर नवीन निर्माण के लिए तो स्वस्थ प्रवृत्तियाँ, सस्कृत हृदय और परिष्कृत बुद्धि चाहिए। जो विकृतियो से प्रभावित है, पर आत्म-सस्कार के प्रश्न को भविष्य के लिए उठा रखते है, वे पथ-प्रदर्शन के लिए उपयुक्त न हो सकेगे।

हमारे साथ विकलाग भी हो सकते हैं और व्याधिग्रस्त भी, पर निर्माण के लिए हमे पूर्णांग और सबल व्यक्ति चाहिए। जब निर्माण हो चुके, तब हम विकलागो और पीडितो को सरक्षण भी दे सकते है और उन्हे स्वस्थ बनाने

के साधन भी एकत्र कर सकते हैं। किन्तु कुछ बनाने का कार्य आरम्भ करने के पहले यदि हम उन्हें अपने आगे खड़ा कर लेते हैं तो अपनी असमर्थता के विज्ञापन के अतिरिक्त कुछ नहीं करेंगे।

लेखक का ध्यान यदि विकृतियों में केन्द्रित हो गया, तो इसका कारण उसकी मानसिक अस्वस्थता है जिसे वह सिद्धान्तवाद में छिपाना चाहता है। पत्र यदि उत्तेजना-वर्धक रचनाओं को प्रश्रय देते हैं तो इसके पीछे उनका व्यावसायिक लाभ है जिसकी रक्षा के लिए वे सिद्धान्तवाद की ढाल बना लेते हैं।

पर इन दोनों की अपेक्षा संख्या में अधिक और लाभ की दृष्टि से तटस्थ एक तीसरा भी पक्ष है जिसे इस सिद्धान्तवाद के आवरण में आनेवाले कला, साहित्य आदि को जीवन की कसौटी पर परखना होगा। शुद्ध उपयोगितावाद की दृष्टि से भी नारी श्रमिकवर्ग के समान ही दलित पीड़ित पर महत्त्वपूर्ण है। उसमें समष्टिगत चेतना का अभाव-सा है पर व्यष्टिगत चेतना की दृष्टि से भी नारी ने इस प्रवृत्ति में अपमान का ही अनुभव किया है। उत्तर में आज का यथार्थवादी यह कहकर छुट्टी नहीं पा सकेगा कि तुम्हें अपने सम्बन्ध में कुछ ज्ञान नहीं, हम तुम्हें जो देते हैं, उसी में तुम्हारा परम कल्याण है, हमारा इसमें कोई संकीर्ण स्वार्थ नहीं। ये तर्क हमारे गौरांग प्रभुओं के परिचित तर्क हैं, जिनके द्वारा वे अपने स्वार्थ को परार्थ का नाम देकर हम पर लादते थे। आज की नारी इस प्रकार कहनेवाले को घोर प्रतारक मानेगी।

नवीन यथार्थवादी कलाकार किस सीमा तक निम्नवर्ग के सम्पर्क में रहे और उसके जीवन को कितना काव्य-स्थिति दे, यह भी समस्या है।

इस सम्बन्ध में हमारी दो भ्रान्त धारणाएँ बन चुकी हैं। एक यह कि श्रमजीवी वर्ग के जीवन के भीतर प्रवेश करते ही हमारी रचनाएँ प्रतिक्रियात्मक होने लगेंगी और दूसरी यह कि मजदूर, कृषक आदि के चित्रण के अभाव में काव्य और साहित्य में प्रगतिशीलता की गन्ध भी नहीं रह जायगी।

इन भ्रान्तियों के कारण न तो निम्नवर्ग के सरल जीवन का महत्त्व प्रकट हो पाया और न मध्यवर्ग की सांस्कृतिक चेतना उनके जीवन तक पहुँच सकी।

हमारे कलाकार साहित्यकार उनका मूल्यांकन करनेवाले आलोचक, शिक्षक और शिक्षा में संस्कार पानेवाले विद्यार्थी सभी मध्यवर्गीय हैं। इस दृष्टि से निर्माण के क्षेत्र में इस वर्ग का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा जायगा।

पर उच्चवर्ग की निश्चिन्तता और निम्नवर्ग की सतह में ठहरने की शक्ति

के अभाव मे, यह थोडी-सी सुविधा के लिए भी बहुत विपम समझौते करता रहता है।

हमारे जीवन की व्यवस्था उस मशीन की तरह है, जिसमे बडे से लेकर छोटा पुर्जा तक मशीन चलाने के ही काम आता है। इस मशीन मे मध्यवर्गीय कील-काँटो का ही बाहुल्य है, जो अपना स्थान छोडना नही चाहते, अत मशीन को चलाते ही रहते है। जब तक यह अपने वातावरण से बाहर आकर ससार को देखने के लिए स्वतन्त्र नही, तब तक अपने स्थान मे जकडे रहने के कारण अपने आपको देखने के लिए भी स्वतन्त्र नही।

उदाहरण के लिए हम अपने विद्यार्थी और शिक्षकवर्ग को ले सकते हैं जो दूसरो से अधिक सस्कृत और स्वतन्त्र जान पडते है।

विद्यार्थी नितान्त अस्वाभाविक विदेशीय वातावरण से बहुत हल्के पर विविध सस्कार ग्रहण करता रहता है। उसकी असम्भव कल्पनाएँ, ऊँचे-ऊँचे सकल्प, विविधता-भरे विचार आदि देखकर विश्वास होने लगता है कि वह नवयुग का सन्देशवाहक क्रान्तिकारी है।

पर छोटी से छोटी नौकरीरूपी अपवर्ग का आभास मिलते ही वह वेशभूषा से लेकर सिद्धान्त तक इस तरह उतार फेंकता है, जैसे उनमे असाध्य रोग के कीटाणु भर गये हो। जिन्हे ऐसा अपवर्ग नही मिलता, वे या तो निराशा और कटुता से चारो ओर के वातावरण को विषाक्त करके नरक की सृष्टि करते रहते है या आँख मूँदकर उच्छृखल विकृतियो के चलचित्रो का काल्पनिक स्वर्ग रचते हैं।

आज जब जीवन का प्रत्येक क्षण शक्ति की परीक्षा चाहता है, प्रत्येक दिन निर्माण के इतिहास मे नया पृष्ठ जोड जाता है, तब भी उनके पास कोई लक्ष्य नही, जिसे केन्द्र बनाकर उनकी कल्पना, स्वप्न, सकल्प आदि स्वस्थ विकास पा सकें। उनके निकट, लेने योग्य केवल दासता है और देने के लिए विकृति मात्र। यह सत्य है कि जीवन की वर्तमान व्यवस्था उन्हे सुख-सुविधा के साधन नही देती, पर दलितो और पीडितो के कन्धे से कन्धा मिलाकर खड़े होने से कौन रोकता है ? पर न वे अपने जीने का महत्त्व जानते है, न मृत्यु की पीडा पहचानते है।

कला और साहित्य को वे अपने मरु जैसे जीवन मे निरुद्देश्य भ्रमण का सगी बनाकर रखना चाहते हैं। इस प्रकार कलाकार और साहित्यकार की स्थिति उस अभिनेता के समान हो जाती है, जो कुछ और बनने के लिए अपना

व्यक्तित्व रखता है और अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए दूसरा की भूमिका को अपने व्यक्तित्व से अधिक महत्व देता है।

जिस प्रकार चरम सफलता तक पहुँचकर अभिनेता अपने परिचय को और चरम निष्फलता में जीविका के साधन को खो देता है, उसी प्रकार आज के कलाकार के एक ओर अपने आपका खोना और दूसरी ओर जीवन के साधन खो देने का प्रश्न रहता है।

बुद्धिजीवियों में सबसे श्रेष्ठ शिक्षकवर्ग की अपनी अलग ही वर्णव्यवस्था है जिसका आधार विद्या व्यवसाय न होकर धन का लाभ रहता है। जीवन की आवश्यक सुविधाएँ भी न पा सकने वाला स्वभायापण्डित अछूत की कोटि में रक्खा जा सकता है और आवश्यकता से अधिक सुविधा-सम्पन्न विश्वविद्यालय का पर भाषा प्रोफेसर ब्रह्मतेज से युक्त ब्राह्मण का स्मरण दिलाता है। इन दोनों विषम वर्णों के बीच में एक ढुलमुल स्थिति रखनेवाले शिक्षक कभी एक की अवज्ञा, कभी दूसरे से ईर्ष्या का व्यवसाय करके अथवा वेतन-वृद्धि के संघर्ष में विजयी या पराजित होकर जीते रहते हैं। ये विद्या-व्यवसायी या तो इतने निश्चिन्त हैं या इतने संघर्षलीन कि उन्हें अपने कर्त्तव्य की गुरुता पर विचारकर अपनी स्थिति से विद्रोह करने का अवकाश नहीं मिलता। परिणाम प्रत्यक्ष है।

जैसे हर टकसाल में एक प्रकार के सिक्के ढलते रहते हैं उसी प्रकार हमारे शिक्षा गृहों से एक ही प्रकार के लक्ष्यहीन, हताश पर कल्पनाजीवी विद्यार्थी निकलते रहते हैं। अवश्य ही इसका उत्तरदायित्व सम्पूर्ण व्यवस्था पर रहेगा पर आज अन्य क्षेत्रों से अधिक तटस्थ और सम्मानित क्षेत्र में कार्य करनेवाले यदि अपनी व्यावसायिक बुद्धि और संकीर्ण दृष्टिकोण को बदल सकते तो एक नयी पीढ़ी के भविष्य की रेखाएँ स्पष्ट और उज्ज्वल हो उठतीं।

हमारे शिक्षक वर्ग को राजनीति से शासकों ने मुक्ति दे दी है और सामाजिक समस्या से उसने स्वयं मुक्ति ले ली है, अतः अपनी सीमा के भीतर ही वह सब कुछ पा लेता है। और इस काल्पनिक संतोष को बनाये रखने के लिए वह बाहर की किसी समस्या को अपने सीमित संसार में घुसने ही नहीं देता।

इसी कारण हमारी राष्ट्रीय चेतना के प्रसार और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के विस्तार में उसका विशेष महत्त्वपूर्ण सहयोग नहीं।

साहित्य, कला आदि की दृष्टि से इस वर्ग की स्थिति कुछ विचित्र-सी है। अन्य स्वतन्त्र देशों में एक व्यक्ति जिस विषय का विद्वान् होता है उसी में

आजीविका की सुविधा पाता है और उसी दिशा मे नूतन निर्माण करता है। हमारे जीवन मे विदेशी भाषा का विशेष ज्ञान ही योग्यता का मापदण्ड है और उसी विषय का अध्ययन-अध्यापन अधिक अर्थलाभ का सुलभ साधन बन जाता है। पर उसमे नया सृजन करके कोई व्यक्ति विदेश मे विशेष महत्त्व पाने का अधिकारी नही बन पाता और अपनी भाषा मे कुछ करके वह स्वदेश मे बहुत साधारण ही माना जाता है। यह कठोर सत्य अनेक विद्वानो के जीवन मे परीक्षित हो चुका है, अत साधारण व्यक्ति तो किसी दशा मे भी कुछ करने की प्रेरणा नही पाता।

आज की परिस्थितियो मे भविष्य का जो सकेत मिलता है, उससे प्रकट हो रहा है कि स्थिति बदलते ही अपनी भाषा और साहित्य का महत्त्व बढ जायगा। ऐसी स्थिति मे अपनी भाषा और साहित्य-प्रेम के कारण असुविधाएँ सहनेवाले ही नही, विदेशी साहित्य के अध्यापन द्वारा सब प्रकार की सुविधाएँ पानेवाले शिक्षक भी, इस ओर देखने की आवश्यकता समझते है। इस प्रवृत्ति ने नयी विचार-धाराओ के साथ-साथ नयी समस्याएँ भी दी है।

नवीन साहित्यिक प्रगति मे इस वर्ग का सहयोग शुभ लक्षण है, पर इससे शुद्ध साहित्यकार और कलाकार की कठिनाई घटने के स्थान मे बढ ही रही है। इसके कारण है। अब तक दूसरी दिशा मे चलनेवाले व्यक्ति भी स्वार्जित ज्ञान के कारण, अपने साहित्य के क्षेत्र मे जिज्ञासु बनकर आने मे अपमान का अनुभव करते है। इस प्रकार उन्हे कुछ नवीन देने का सकल्प और उसकी घोषणा करके आना पडता है।

पर देने के दो ही साधन है या उत्कृष्ट सृजन के लिए प्रतिभा या प्रतिभाओ के मूल्याकन की शक्ति। कहना व्यर्थ है कि पहला सबके लिए सम्भव नही, और दूसरा प्रयत्न-साध्य है। पर प्रयत्न-साध्य साधन भी देश-जातिगत विशेषता, सास्कृतिक चेतना, साहित्य-कला आदि के ज्ञान की अपेक्षा रखता है, जिसके लिए नवीन आलोचक के पास अवकाश नही। परिणामत इनके द्वारा जो मूल्याकन होता है और उस मूल्याकन की व्याख्या के लिए जो सृजन होता है, वह हमारे सास्कृतिक प्रश्न की उपेक्षा कर जाता है और इस प्रकार हमे अपने साहित्य, कला आदि की महत्ता नापने के लिए अन्य देश के मापदण्ड ही स्वीकार करने पडते है।

इस सम्बन्ध मे एक समस्या और उत्पन्न हो जाती है। तर्क-प्रधान ज्ञान तो बिना अपनी विशेषता खोये हुए स्थानान्तरित किया जा सकता है, पर भाव-प्रधान काव्य, कला आदि अपनी धरती से इस प्रकार बँधे रहते है कि

उनका एक वातावरण से दूसरे म सञ्चरण मानव की सम्पूर्ण सवेदनीयत
चाहता है।

एक जाति के विज्ञान दर्शन आदि सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्ध न रखक
जीवन के कुछ मूलभूत तत्त्वो से सम्बन्ध रखते हैं और उनका लक्ष्य मानव क
चेतना म ज्ञान की वृद्धि करना है। परिणामत केवल चेतना की दृष्टि
उनका ग्रहण कहीं भी सहज हो सकता। इसके विपरीत काव्य कला आदि
सम्पूर्ण जीवन के माध्यम से जीवन के मूलतत्त्वो की अनुभूति देते हैं और उनक
उद्देश्य विविधता म एकता की भावना जगाकर मनुष्य को आनन्द देना है
अत किसी जाति के जीवन और उसके वातावरण के परिचय के बिना काव्य
कला आदि का ग्रहण कठिन हो जाता है।

तर्क विशेष है, क्योकि बुद्धि की असख्य ऊँची-नीची श्रेणियाँ हैं। प
बुद्धि के एक स्तर पर खडे हुए दो व्यक्ति एक दूसरे के जीवन से अपरिचित
रहते हुए भी ज्ञान का आदान प्रदान कर सकगे। भाव म सामान्यता रहती है
पर यह सामान्यता बाहर से इतनी विविध है कि साथ साथ चलने वाले यात्री
भी एक दूसरे के जीवन की परिस्थितियो को जाने बिना एक दूसरे के सुख
दुखो से तादात्म्य न कर सकगे।

ससार के एक कोने का वैज्ञानिक दूसरे कोने के वैज्ञानिक की खोज के
परिणाम को जिस तटस्थता से ग्रहण करता है एक देश का दार्शनिक दूसरे
दूरदेशीय दार्शनिक के तर्क की सूक्ष्मता को जिस निर्विकारता से स्वीकार
करता है, उस तटस्थता और निर्विकारता से एक देश का कलाकार दूसरे
देश के सगीत चित्र काव्य आदि को नहीं ग्रहण करेगा क्योकि वह तो भाव
का स्थायी रसत्व के रूप म अपनी आत्मा का मधुमय बना लेना चाहता है।
ऐसी स्थिति म जब तक अन्यदेशीय कलाए जीवन की समस्त विविधता और
उसमे व्यक्त सामञ्जस्यमूलक एकता लेकर नहीं उपस्थित होतीं तब तक व
उसके निकट किसी अपरिचित का इतिवृत्त मात्र रहती हैं।

यथार्थवाद के सम्बन्ध म यह कठिनाई और बढ जाती है, क्योकि वह
सामान्य विविधता ही नहीं विशेष इतिवृत्त के माध्यम से सवेदनीयता चाहता
है। आदर्श उस आकाश के समान प्रसारगामी है जो विविधता का रूप ग्रहण
करके भी उससे ऊपर एक व्यापक सूक्ष्म स्थिति रखता है पर यथार्थवाद उस
जल प्रवाह के समान रहेगा, जो अनन्त आकाश के नीचे ठहरने के लिए कठोर
सम विषम धरती और तटो की सीमा लेकर ही गतिशील हो सकता है।

कुछ नवीन देने के प्रयास मे नवीन आलोचक ने वहुत कुछ ऐसा दे डाला है, जो हमारी सामूहिक हीन भावना मे पनप कर फैलता जाता है।

कोई गोर्की की भूमिका मे है, कोई तुर्गनेव के जामे मे है, कोई किसी अन्य कलाकार का रूप भर रहा है। इस तरह दूसरो के आच्छादन मे कभी साँस रोककर सिकुडे हुए और कभी निःश्वास फेंककर स्फीतकाय होने वाले लेखक का दम घुटने लगे, तो आश्चर्य नही। भारतीय वना रहना, हमारे कलाकार का पर्याप्त परिचय क्यो नही हो सकता, यह प्रश्न भी संकीर्ण राष्ट्रीयता की परिधि मे आ जाता है। अतः कुछ इस प्रवृत्ति ने और कुछ अपने जीवन को देखने की अनिच्छा ने आज के यथार्थवाद को प्रत्यक्ष ज्ञान की आवश्यकता से छुटकारा दे दिया है। जिनके निकट रूस अब तक दुर्लभदर्शन है, वे उसके चित्र-गीत लिख सकते हैं, जिनकी कल्पना मे भी चीन प्रत्यक्ष नही, वे उसकी दृश्य-कथाएं लिखने के अधिकारी हैं, पर जो देश उनके नेत्रो की नीलिमा मे प्रत्यक्ष है, उनके स्पन्दन में बोलता है, उसके यथार्थ का प्रश्न उनसे सुलझ नही पाता।

सुलझाने वाले दो प्रकार के हैं। एक तो वे जो तीस दिन के उपरान्त निश्चित धन पाकर जीवन की असुविधाओ से मुक्ति पा लेते है और शेष उन्नीस दिनो मे कला के मूल्यांकन, कलाकार के पथ-प्रदर्शन और उपाधि-वितरण द्वारा मनोविनोद का अवकाश निकाल लेते है और दूसरे वे, जिन्हे पाठको की विविध माँगो का भार लादकर तथा आलोचको के उलझे-सुलझे आदेशो के वीच मे दव-पिसकर तीस दिन मे प्रतिदिन, दूसरा सवेरा देखने के लिए संघर्ष करते हुए, अमर कलाकार की भूमिका निवाहनी पड़ती है। आश्चर्य नही कि गन्तव्य खोजने मे वे अपने आपको खो देते है।

मजदूर और श्रमिक के विकृत चित्र ही यथार्थ है या नही, कला के नाम पर निम्नवर्ग को यही दिया जायगा या कुछ और भी, आदि समस्याएँ तव तक नही सुलझ सकती, जव तक कलाकार अपनी स्थिति का विरोधाभास नही समझता। वह अपने आपको श्रमजीवी कहता है और वुद्धि के अभिचार से जीता है, वह अमरता का मुकुट पहने है और तिल-तिल कर मरा जाता है, वह नूतन निर्माण चाहता है और उस मध्यवर्ग का सफल प्रतिनिधि है, जिसका परिचय मार्क्स के शब्दो मे—'Lacking faith in themselves, lacking faith in the people, grumbling at those above and trembling in face of those below.' (आत्मविश्वास से रहित, जनता के प्रति अविश्वासी, अपने से

उच्च के प्रति भुनभुनानेवाला और अपने से निम्नवर्ग के सामने काँप उठने वाला) है।

नूतन निर्माण के लिए नवीन कलाकार को जीवन के कोने कोने में खोजकर सब अमूल्य उपकरण एकत्र करने होंगे, अतः साधारण जीवन का सम्यक उसकी पहली आवश्यकता है।

निम्न वर्ग को कला के नाम पर क्या देना होगा इसका उत्तर यदि वह अपनी जन्मदात्री धरती से नहीं चाहता तो अपने विचारों की धात्री भूमि से भी पा सकता है। तात्कालिक समस्याएँ महत्त्व रखती हैं पर उनका महत्त्व भी कला और साहित्य की मूल प्रेरणा में तत्त्वतः परिवर्तन नहीं कर सकता इसी से क्रांति के ध्वंस और रक्तपात के ऊपर उठकर क्रांतिस्रष्टा का स्वर गूंज उठता है—

Many people are honestly convinced that the difficulties and danger of the moment can be overcome by bread and cheese Bread certainly ! circuses allright ! But we must not forget that the circus is not a great true art Our workers and peasants truly deserve more than circuses They have a right to true great art So that art may come to the people and the people to art we must first of all raise the general level of education and culture —Lenin

(अनेक व्यक्ति सच्चे मन से विश्वास करते हैं कि इस क्षण की सब कठिनाइयाँ और खतरे रोटी और पनीर से दूर किए जा सकते हैं। रोटी आवश्यक रहेगी—सर्कस भी ठीक है। पर हम यह नहीं भूलना चाहिए कि सर्कस कोई महत् और सच्ची कला नहीं। हमारे श्रमजीवी और कृषक सर्कस से अधिक पाने के योग्य हैं। वे सत्य और महान कला के अधिकारी हैं कला को जनता तक पहुँचाने और जनता को कला के निकट लाने के लिए हम सबसे पहले शिक्षा और संस्कृति का धरातल ऊँचा उठाना चाहिए।)

इसी सन्तुलित दृष्टि का अनुसरण करके रूसी जनता आज इस सत्य तक पहुँच सकी है— To live without work is robbery to work without art is barbarism (बिना श्रम के जीना चोरी है और बिना कला के श्रम बर्बरता।)

नवीन कलाकार यदि दृष्टि का सन्तुलन न खोये तो वह भी इसी सत्य का प्रत्यक्ष देखेगा और तब मजदूर कला और राजकला के विवादों के स्थान में एक ही महान् और सत्य कला की प्राप्ति स्वाभाविक हो जायगी।

जो कला के क्षेत्र मे विशेष कुछ दे नही सकते, वे यदि द्वार द्वार अलख जगाकर प्रत्येक व्यक्ति मे सास्कृतिक चेतना और कला-प्रेम जगाने का कर्तव्य स्वीकार करें, तो हमारे जीवन के अनेक प्रश्नो का समाधान हो जाय। हमारे श्रमजीवी और कृषक की सास्कृतिक चेतना अब तक जीवित है, अत हमारा कार्य दूसरे देशो से सरल सिद्ध होगा।

इस युग के कवि के सामने जो विषम परिस्थितियाँ हैं, उन पर मै रग फेरना नही चाहती। आज सगठित जाति वीरगाथाकालीन युद्ध के लिए नही सज्जित हो रही है, जो कवि चारणो के समान कडखो से उसे उत्तेजित मात्र करके सफल हो सके, वह ऐश्वर्यराशि पर बैठी पराजय भुलाने के साधन नही ढूँढ रही है, जो कवि विलास की मदिरा ढाल-ढालकर अपने आपको भूल सके और कठोर सघर्ष से क्षामकण्ठ भी नही है, जो कवि अध्यात्म की सुधा से उसकी प्यास बुझा सके।

वास्तव मे यह तो जीवन और चेतना के ऐसे विषम खण्डो मे फूटकर बिखर गयी है, जो सामञ्जस्य को जन्म देने मे असमर्थ और ,परस्पर विरोधी उपकरणो से बने जान पडते है । इसका कारण कुछ तो हमारा व्यक्ति प्रधान युग है और कुछ वह प्रवृत्ति जो हमे जीवन से कुछ न सीखकर अध्ययन से सब कुछ सीखने के लिए बाध्य करती है। हम ससार भर की विचारधाराओ मे जीवन के मापदण्ड खोजते-खोजते जीवन ही खो चुके है, अत आज हम उन निर्जीव मापदण्डो की समष्टि मात्र हें।

कवि के एक ओर अगणित वर्ग-उपवर्गो मे खण्डित मुट्ठीभर मनुष्यो की ज्ञानराशि है और दूसरी ओर रूढियो मे अचल, असख्य निर्जीव पिण्डो मे बिखरे मानव का अज्ञान-पुञ्ज है। एक अपने विशेष सिद्धान्तो के प्रचार के लिए कवि का कण्ठ खरीदने को प्रस्तुत है और दूसरा उसकी वाणी से उतना अर्थ निकाल लेना भी नही जानता, जितना वह अपने आँगन मे बोलनेवाले काक के शब्द का निकाल लेता है। एक ओर राजनीतिक उसे निष्क्रिय समझता है, दूसरी ओर समाज-सुधारक उसे अबोध कहता है। इसके अतिरिक्त उसका व्यक्तिगत जीवन भी है, जिसके सब सुनहले स्वप्नो और रगीन कल्पनाओ पर व्यापक विषमता से निराशा की कालिमा फैलती जाती है।

इस युग का कवि हृदयवादी हो या बुद्धिवादी, स्वप्नद्रष्टा हो या यथार्थ का चित्रकार, अध्यात्म से बँधा हो या भौतिकता का अनुगत, उसके निकट यही मार्ग शेष है कि वह अध्ययन मे मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर आकर, जड़ सिद्धातो का पाथेय छोडकर अपनी सम्पूर्ण सवेदन-शक्ति के साथ जीवन मे घुल-मिल जावे। उसकी केवल व्यक्तिगत सुविधा-असुविधा

आज गौण है उसकी केवल व्यक्तिगत हार-जीत आज मूल्य नहीं रखता क्योंकि उसके सार "मष्टिगत सत्य की आज समष्टिगत परीक्षा है।

ऐसी भ्रान्ति के अवसर पर सच्चे कलाकार पर— पीर बवर्ची भिश्ती खर' की कहावत चरितार्थ हो जाती है—उसे स्वप्नद्रष्टा भी होना है, जीवन के सूक्ष्मतम निम्न स्तर तक मानसिक खाद्य भी पहुँचाना है तृषित मानवता को संवेदना का जल भी देना है और सबके अज्ञान का भार भी सहना है।

उसी के हृदय के तार इतने खिंच गये होते हैं कि हल्की-सी साँस से भी झंकृत हो सकें उसी के जीवन में इतनी विशालता सम्भव है कि उसमें सबके वन-भवन एक होकर समा सकें और उसी की भावना का अञ्चल इतना अछोर बन सकता है कि सबके आँसू और हँसी सञ्चित कर सके। सारांश यह कि आज के कवि को अपने लिए अनागारिक होकर भी संसार के लिए गृही, अपने प्रति वीतराग होकर भी सबके प्रति अनुरागी अपने लिए संन्यासी होकर भी सबके लिए कर्मयोगी होना होगा क्योंकि आज उसे अपने आपको खोकर पाना है।

युग युगान्तर से कवि जीवन के जिस कलात्मक रूप की भावना करता आ रहा है आज उसे यदि मानवता के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचाना है तो उसका कार्य उस युग से सहस्रगुण कठिन है जब वह इस भावना को कुछ भाव प्रवण मानवों को सहज ही सौंप सकता था। वह सौन्दर्य और भावना की विराट विविधता से भरे कलाभवन को जलाकर अपने पथ को सहज और कार्य को सरल कर सकता है क्योंकि तब इसे जीवन को निम्न स्तर पर केवल ग्रहण कर लेना होगा, उसे नयी दिशा में ले जाना नहीं परन्तु यह उसके अन्याय का कोई प्रतिकार नहीं है। फिर जब सत्ताहीन मानवता अपनी सक्रिय चेतना लेकर जागेगी तब वह इस प्रासाद के भीतर झाँकना ही चाहेगी, जिसके द्वार उसके लिए इतने दीर्घकाल से रुद्ध रहे हैं। वह मनुष्य, जिसने युगों के समुद्र के समुद्र बह जाने पर भी एक कलात्मक पत्थर का खण्ड नहीं बह जाने दिया असीम धूम से अनन्त स्वरों की लहरें मिट जाने पर भी एक कलात्मक पंक्ति नहीं खोई ऐसा खंडहर पाकर हमारे प्रति कृतज्ञ होकर कुछ और मांगेगा या नहीं इसका प्रमाण अन्य जागृत देश दे सकेंगे।

मनुष्य में कल्याणी कला का छोटा-से छोटा अंकुर उगाने के लिए भी आज के कवि को सम्पूर्ण जीवन की खाद प्रसन्नता से देना होगी, इसमें मुझे सन्देह नहीं है।

हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या

●●

निकट की दूरी हमारे वैज्ञानिक युग की अनेक विशेषताओ मे सामान्य विशेषता वन गई है। जड वस्तुओ मे समीपता स्थिति मात्र है, विकास के किसी सचेतन क्रम मे प्रतिफलित होने वाला आदान-प्रदान नही। एक शिला दूसरी पर गिर कर उसे तोड सकती है, एक वृक्ष दूसरे के समीप रह कर उसे छाया दे सकता है, पर ये सब स्थितियाँ उनका पारस्परिक आदान-प्रदान नही कही जायेंगी, क्योकि वह तो चेतना ही का गुण है।

मनुष्य की निकटता की परिणति उस साहचर्य मे होती है, जो बुद्धि को बुद्धि से मिलाकर, अनुभव को अनुभव मे लय करके, समष्टिगत बुद्धि को अभेद और समष्टिगत अनुभव को समृद्ध करता है। आधुनिक युग अपने साधनो से दूरातिदूर को निकट लाकर स्थिति मात्र उत्पन्न करने मे समर्थ है, जो अभेद बुद्धि और अनुभवो की सगति के विना अपूर्ण होने के साथ-साथ जीवन-क्रम मे वाधक भी हो सकती है।

उदाहरणार्थ, पथ के सहयात्री भी एक दूसरे के समीप होते है, और युद्ध-भूमि पर परस्पर विरोधी सैनिक भी, परन्तु दोनो प्रकार के सामीप्य परिणामत कितने भिन्न हैं। पहली स्थिति मे एक दूसरे की रक्षा के लिए प्राण तक दे सकता है और दूसरी समीपता मे एक, दूसरे के वचाव के सारे साधन नष्ट कर उसे नष्ट करना चाहता है। हमारे मस्तक पर आकाश मे उमडता हुआ वादल और उमडता हुआ वमवर्षक यान दोनो ही हमारे समीप कहे जायेगे, परन्तु स्थिति एक होने पर भी परिणाम विरुद्ध ही रहेगे। जिनके साथ मन शकार हित नही हो सकता, उनकी निकटता सघर्ष की जननी है। इसी से आज के युग मे मनुष्य

पास है परन्तु मनुष्य का "याकुल मन पास आने वाला से दूर होता जा रहा है। स्वस्थ आदान प्रदान के लिए मनो की निकटता पहली आवश्यकता है।

हमारे विशाल और विविधता भरे देश की प्रतिभा ने अपनी विकास-यात्रा के प्रथम प्रहर में ही जीवन की तत्वगत एकता का ऐसा सूत्र खोज लिया था जिसकी सीमा प्राणिमात्र तक फल गयी। हमारे विकास पथ पर "यष्टिगत बुद्धि, समष्टिगत बुद्धि के इतने समीप रही है और "यक्तिगत हृदय समष्टिगत हृदय का ऐसा अभिन्न सगी रहा है कि अपरिचय का प्रश्न ही नही उठा। इसी से सम्पूर्ण भौगोलिक विभिन्नता और उसम बँटा जीवन एक ही सांस्कृतिक उच्छ्वास म स्पंदित और अभिन्न रह सका है।

कही किसी सुन्दर भविष्य म अपरिचय इस ऐक्य के सूक्ष्म बन्धन को छिन्न न कर डाले सम्भवत इसी आशका से अतीत के चिन्तको ने देश के कोने-कोने म बिखरे जीवन को निकट लाने के साधनो की खोज की। एसे तीर्थ, जिनकी सीमा का स्पश जीवन की चरम सफलता का पर्याय है ऐसे पुण्यपर्व, जिनकी छाया म वण देश भाषा आदि की भित्तियाँ मिट जाती हैं ऐसी यात्राएँ जो देश के किसी खड को अपरिचित नही रहने देती, शास्त्र आदि सब अपरिचय को दूर रखने के उपाय हो कहे जायगे।

अच्छे बुने हुए वस्त्र म जैसे ताना बाना "यक्त नही होता वसे ही हमारा सांस्कृतिक एकता म प्रयास प्रत्यक्ष नही है। पर है वह निश्चय ही युगो की अविराम और अथक साधना का परिणाम। राजनीतिक उत्थान-पतन, शासनगत सीमाएँ और विस्तार हमारे मनको बाँधने म असमर्थ ही रहे अत-किसी भी कोने से आने वाले चिन्तन दशन आस्था या स्वप्न की क्षीणतम चाप भी हमारे हृदय म अपनी स्पष्ट प्रतिध्वनि जगाने म समर्थ हो सकी।

जीवन के सत्य तक पहुंचाने वाले हमारे सिद्धान्तो मे ऐसा एक भी नही है जिसम असख्य तत्वा वेषियो के चिन्तन की रेखाएं न हो उसे शिवता देने वाले आस्थाओं म ऐसा एक भी नही है जिसमे अनेक साधको की आस्था की सजीवता न हो और उसे सुन्दर बनाने वाले स्वप्नो मे एक भी ऐसा नही है, जिसम युग युगो के स्वप्नद्रष्टाओ की दृष्टि का आलोक न हो।

पर नया जल तो समुद्र को भी चाहिए, नदी नालो की तो चर्चा ही "यर्थ है। यदि अपनी क्रमागत एकता का सजीव और "यापक रखने म हमारा युग कोई महत्वपूर्ण योगदान नही देता तो वह अपने महान् उत्तराधिकार के उपयुक्त नहा कहा जायगा।

युगो के उपरान्त हमारा देश एक राजनीतिक इकाई बन सका है परन्तु

आज यदि हम इसे सांस्कृतिक इकाई का पर्याय मान लें, तो यह हमारी भ्रान्ति ही होगी।

कारण स्पष्ट है। राजनीतिक इकाई जीवन की बाह्य व्यवस्था से सम्बन्ध रखती है, अत. वह बल से भी बनाई जा सकती है। परन्तु सांस्कृतिक इकाई आत्मा की उस मुक्तावस्था में बनती है, जिसमें मनुष्य भेदों से अभेद की ओर, अनेकता से एकता की ओर चलता है। इस मुक्तावस्था को सहज करने के लिए बुद्धि से बुद्धि और हृदय से हृदय का तादात्म्य अनिवार्य हो जाता है।

इस सम्बन्ध में विचार करते समय अपने युग की विशेष स्थिति की ओर भी हमारा ध्यान जाना स्वाभाविक है। हर क्रान्ति, हर संघर्ष और हर उथल-पुथल अपने साथ कुछ वरदान और कुछ अभिशाप लाते हैं। वर्षा की बाढ़ अपने साथ जो कूड़ा-कर्कट बहा लाती है, वह उसके वेग में न ठहर पाता है, और न असुन्दर जान पड़ता है; पर बाढ़ के उतर जाने पर जो कूड़ा-कर्कट छिछले जल या तट से चिपक कर स्थिर हो जाता है, वह असुन्दर भी लगता है और जल की स्वच्छता नष्ट भी करता रहता है। दीर्घ और अनवरत प्रयत्न के उपरान्त ही लहरें उसे धारा के बहाव में डाल कर जल को स्वच्छ कर पाती हैं।

बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति हमारे युग की है। संघर्ष के दिनों में राजनीतिक स्वतन्त्रता हमारी दृष्टि का केन्द्र-बिन्दु थी; और समस्याएँ भी जीवन के उसी अंग से सम्बद्ध रह कर महत्व पाती थीं। परन्तु, स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त संघर्ष-जनित वेग के अभाव में हमारी गति में ऐसी शिथिलता आ गयी, जिसके कारण हमारे सांस्कृतिक स्तर का निम्न और जड़ हो जाना स्वाभाविक था। इसके साथ ही जीवन के विविध पक्षों की समस्याएँ अपने-अपने समाधान माँगने लगीं। स्वतन्त्रता, अप्राप्ति के दिनों में साध्य और उपभोग के समय साधनमात्र रह जाती है, इसी से वह अपने आप में निरपेक्ष और पूर्ण नहीं कही जायगी। जो राष्ट्र राजनीतिक स्वतन्त्रता को जीवन के सर्वांगीण विकास का लक्ष्य दे सकता है, उसके जीवन में गतिरोध का प्रश्न नहीं उठता, पर साधन को साध्य मान लेना, गति के अन्त का दूसरा नाम है।

सभ्यता और संस्कृति पर अपना दावा सिद्ध करने के लिए किसी भी समाज के पास उसका लौकिक व्यवहार ही प्रमाण रहता है। अन्य कसौटियाँ महत्वपूर्ण हो सकती हैं, परन्तु प्रथम नहीं।

दर्शन, साहित्य आदि से सम्बद्ध उपलब्धियाँ तो व्यक्ति के माध्यम से आती हैं। कभी वे समष्टि की अव्यक्त या व्यक्त प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती

पास है परन्तु मनुष्य का नवाकुल मन पास आने वाला से दूर होता जा रहा है। स्वस्थ आदान प्रदान के लिए मना की निकटता पहली आवश्यकता है।

हमारे विशाल और विविधता भरे देश की प्रतिभा ने अपनी विकास-यात्रा के प्रथम प्रहर म ही जीवन की तत्वगत एकता का एसा सूत्र खोज लिया था, जिसकी सीमा प्राणिमात्र तक फल गयी। हमार विकास पथ पर व्यष्टिगत बुद्धि, समष्टिगत बुद्धि के इतने समीप रही है और व्यक्तिगत हृदय समष्टिगत हृदय का एसा अभिन्न सगी रहा है कि अपरिचय का प्रश्न ही नही उठा। इसी से सम्पूर्ण भौगोलिक विभिन्नता और उसम बँटा जीवन एक ही सास्कृतिक उच्छ्वास म स्पन्दित और अभिन्न रह सका है।

वहा किसी सुन्दर भविष्य म, अपरिचय इस एक्य क सूक्ष्म बन्धन को छिन्न न कर डाल सम्भवत इसी आशका स अतीत क चिन्तको ने देश के कोने-कोने म बिखरे जीवन को निकट लाने के साधना की खोज की। एस तीर्थ जिनकी सीमा का स्पश जीवन की चरम सफलता का पर्याय है एसे पुण्यपर्व जिनकी छाया म वण देश भाषा आदि की भित्तियाँ मिट जाती हैं एसी यात्राए, जो देश के किसी खड को अपरिचित नही रहने देती, आदि आदि सब अपरिचय को दूर रखन के उपाय ही कहे जायगे।

अच्छे बुने हुए वस्त्र म जैसे ताना बाना व्यक्त नही होता, वसे ही हमारी सास्कृतिक एकता म प्रयास प्रत्यक्ष नही है। पर है वह निश्चय ही युगो की अविराम और अथक साधना का परिणाम। राजनीतिक उत्थान-पतन, शासनगत सीमाए और विस्तार हमार मनको बाँधने म असमथ ही रहे, अत- किसी भी कोने से आने वाले चिन्तन, दशन आस्था या स्वप्न की क्षीणतम चाप भी हमारे हृदय म अपनी स्पष्ट प्रतिध्वनि जगाने म समथ हो सकी।

जीवन क सत्य तक पहुचाने वाले हमारे सिद्धान्तो म एसा एक भी नही है जिसम असख्य तत्ववेत्तियो के चिन्तन की रेखाए न हो उसे शिवता देने वाले आदर्शों म एसा एक भी नहा है जिसम अनेक साधको की आस्था की सजीवता न हो और उसे सुन्दर बनाने वाले स्वप्नो म एक भी एसा नहीं है, जिसमें युग युगो क स्वप्नद्रष्टाओं की दृष्टि का आलोक न हो।

पर नया जल तो समुद्र को भी चाहिए नदी नालो की तो चर्चा ही व्यर्थ है। यदि अपनी क्रमागत एकता को सजीव और व्यापक रखने म हमारा युग कोई महत्वपूर्ण योगदान नही देता तो वह अपने महान् उत्तराधिकार के उपयुक्त नही कहा जायगा।

युगो के उपरान्त हमारा देश एक राजनीतिक इकाई बन सका है परन्तु

आज यदि हम इसे सांस्कृतिक इकाई का पर्याय मान लें, तो वह हमारी भ्रान्ति ही होगी।

कारण स्पष्ट है। राजनीतिक इकाई जीवन की बाह्य व्यवस्था से सम्बन्ध रखती है, अतः वह बल से भी बनाई जा सकती है। परन्तु सांस्कृतिक इकाई आत्मा की उस मुक्तावस्था में बनती है, जिसमें मनुष्य भेदों से अभेद की ओर, अनेकता से एकता की ओर चलता है। इस मुक्तावस्था को सहज करने के लिए बुद्धि से बुद्धि और हृदय से हृदय का तादात्म्य अनिवार्य हो जाता है।

इस सम्बन्ध में विचार करते समय अपने युग की विशेष स्थिति की ओर भी हमारा ध्यान जाना स्वाभाविक है। हर क्रान्ति, हर संघर्ष और हर उथल-पुथल अपने साथ कुछ वरदान और कुछ अभिशाप लाते हैं। वर्षा की बाढ़ अपने साथ जो कूड़ा-कर्कट बहा लाती है, वह उसके वेग में न ठहर पाता है, और न असुन्दर जान पड़ता है; पर बाढ़ के उतर जाने पर जो कूड़ा-कर्कट छिछले जल या तट से चिपक कर स्थिर हो जाता है, वह असुन्दर भी लगता है और जल की स्वच्छता नष्ट भी करता रहता है। दीर्घ और अनवरत प्रयत्न के उपरान्त ही लहरें उसे धारा के बहाव में डाल कर जल को स्वच्छ कर पाती हैं।

बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति हमारे युग की है। संघर्ष के दिनों में राजनीतिक स्वतन्त्रता हमारी दृष्टि का केन्द्र-बिन्दु थी, और समस्याएँ भी जीवन के उसी अंश से सम्बद्ध रह कर महत्व पाती थीं। परन्तु, स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त संघर्ष-जनित वेग के अभाव में हमारी गति में ऐसी शिथिलता आ गयी, जिसके कारण हमारे सांस्कृतिक स्तर का निम्न और जड़ हो जाना स्वाभाविक था। इसके साथ ही जीवन के विविध पक्षों की समस्याएँ अपने-अपने समाधान माँगने लगीं। स्वतन्त्रता, अप्राप्ति के दिनों में साध्य और उपभोग के समय साधनमात्र रह जाती है, इसी से वह अपने आप में निरपेक्ष और पूर्ण नहीं कही जायगी। जो राष्ट्र राजनीतिक स्वतन्त्रता को जीवन के सर्वांगीण विकास का लक्ष्य दे सकता है, उसके जीवन में गतिरोध का प्रश्न नहीं उठता, पर साधन को साध्य मान लेना, गति के अन्त का दूसरा नाम है।

सभ्यता और संस्कृति पर अपना दावा सिद्ध करने के लिए, किसी भी समाज के पास उसका लौकिक व्यवहार ही प्रमाण रहता है। अन्य कसौटियाँ महत्वपूर्ण हो सकती हैं, परन्तु प्रथम नहीं।

दर्शन, साहित्य आदि से सम्बद्ध उपलब्धियाँ तो व्यक्ति के माध्यम से आती हैं। कभी वे समष्टि की अव्यक्त या व्यक्त प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती

हैं और कभी उनका विरोध। एक अत्यन्त युद्धप्रिय जाति में ऐसा विचारक या साहित्यकार भी उत्पन्न हो सकता है जो शान्ति को जीवन का चरम लक्ष्य घोषित करे और ऐसा भी जो उसी प्रवृत्ति की महत्ता और उपयोगिता सिद्ध करे।

पर सभ्यता और संस्कृति किसी एक में सीमित न होकर सामाजिक विशेषता है, जिसका मूल्यांकन समाजबद्ध व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में ही सम्भव है। वह कृति न होकर जीवन की ऐसी शैली है, जिसकी मिट्टी से साहित्य दर्शन ज्ञान विज्ञान की कृतियाँ सम्भव होती हैं।

विगत कुछ वर्षों से हमारे जीवन से संस्कार के बन्धन टूटते जा रहे हैं और यदि यही क्रम रहा तो आसन्न भविष्य में हमारे लिए संस्कृति पर अपना दावा सिद्ध करना कठिन हो जायगा। हरे पत्ते और सजीव फूल वृन्त से एक रसमयता में बँधे रहते हैं पर बिखरने वाली पखुड़ियाँ और झड़ने वाले पत्ते न वृन्त के रस से रसमय रहते हैं न वृन्त की जीवनी शक्ति से सन्तुलित।

हमारे समाज के सम्बन्ध में भी यही सत्य होता जा रहा है। न वह जीवन के व्यापक नियम से प्राणवन्त है और न अपने देशगत संस्कार से रसमय। उसकी यह विच्छिन्नता उसके बिखरने की पूर्व सूचना है या नहीं यह तो भविष्य ही बता सकेगा पर इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि यह जीवन के स्वास्थ्य का चिह्न नहीं।

हमारे विषम आचरण भ्रान्त असंस्कृत आवेग आदि प्रमाणित करते हैं कि हमारा मनोजगत ही ज्वरग्रस्त है।

यह सत्य है कि हमारी परिस्थितियाँ कठिन हैं पर यह भी मिथ्या नहीं कि हमारी मानसिक स्थिति हमें न किसी परिस्थिति के निदान का अवकाश देती है और न संघर्ष के अनुरूप साधन खोजने का। हम थकते हैं परन्तु हमारी थकावट के मूल में किसी सुनिश्चित लक्ष्य के प्रति आस्था नहीं है। हमारी क्रियाशीलता रोगी की छटपटाहट और क्षण क्षण करवटें बदलने की क्रिया है जो उसकी चिन्तनीय स्थिति की अभिव्यक्ति मात्र है। हर मानव समाज के जीवन में ऐसे संक्रान्तिकाल आते रहते हैं जब उसकी मान्यताओं का कायाकल्प होता है मूल्यांकन के मान नये होते हैं और जीवन की गति में पुरानी गहराई के साथ नयी व्यापकता का संगम होता है। परन्तु जैसे नवीन वेगवती तरंग का पुरानी मन्थर लहर में मिलकर अधिक विशाल हो जाना स्वाभाविक और अनायास होता है वैसे ही संस्कार और अधिक संस्कार, मूल्य और अधिक मूल्य का संगम सहज होता है सुन्दर और सुन्दरतर शिव और शिवतर

आशिक सत्य और अधिक आशिक सत्य मे कोई तात्विक विरोध नही हो सकता। सुन्दरतम्, शिवतम् और पूर्ण सत्य तक पहुँचने के लिए हमे सुन्दर, शिव और आशिक सत्य को कुरूप, अशिव और असत्य बनाने की आवश्यकता नही पडती और जिस युग का मानव यह सिद्धान्त भुला देता है, उस युग के सामने सत्य, शिव, सुन्दर तक पहुँचने का मार्ग रुद्ध हो जाता है। आलोक तक पहुँचने के लिए जो अपने सब दीपक बुझा देता है, उसे अँधेरे मे भटकना ही पडेगा। किसी समाज को ऐसे लक्ष्यरहित कार्य से रोकने के लिए अनेक अन्तर-वाह्य सस्कारो की परीक्षा करनी पडती है, निर्माण मे उसकी आस्था जगानी पडती है, सघर्ष को सृजन-योग बनाना पडता है।

आधुनिक युग मे मानसिक सस्कार के लिए दर्शन, आधुनिक साहित्य, शिक्षा आदि के जितने साधन उपलब्ध है, वे न द्रुतगामी हैं न सुलभ। पर, साधनो की खोज मे हमारी दृष्टि यन्त्र-युग की विशाल कठोरता की छाया मे भी जीवित रह सकने वाली मानव-सवेदना की ओर न जा सके, तो आश्चर्य की बात होगी।

हमारे चारो ओर कभी प्रदेश, कभी भाषा, कभी जाति, कभी धर्म के नाम पर उठती हुई प्राचीरें प्रमाणित करती हैं कि बौद्धिक दृष्टि से हमारा लक्ष्य अभी कुहराच्छन्न है। पर, जिस दिन हमारी बुद्धि मे अभेद और साम-ञ्जस्य होगा, उस दिन हमारी सास्कृतिक परम्परा को नयी दिशा प्राप्त हो सकेगी। जीवन के नव निर्माण मे साहित्य और कला विशेष योगदान देने मे समर्थ हैं, क्योकि वे मानव-भावना के उद्गीथ है। जब भावयोगी मनुष्य, मनुष्य के निकट पहुँचने के लिए दुर्लंघ्य पर्वतो और दुस्तर समुद्रो को पार करने मे वर्षो का समय बिताता था, उस युग मे भी मानवमात्र की एकता के वे ही वैतालिक रहे हैं।

आज जब विज्ञान ने वर्षों को घन्टो मे बदल दिया है, तब साहित्य, कला आदि मनुष्य को मनुष्य से अपरिचित क्यो रहने दे, बुद्धि को बुद्धि का आतक क्यो बनने दें और हृदय को हृदय के विरोध मे क्यो खडा होने दे ?

हम विश्व भर से परिचय की यात्रा मे निकलने के पहले यदि अपने देश के हर कोने से परिचित हो ले, तो इसे शुभ शकुन ही मानना चाहिए। यदि घर मे अपरिचय के समुद्र से विरोध और आशका के काले बादल उठते रहे, तो हमारे उजले सकल्प पथ भूल जायेंगे। अतः दूरी को निकटता बनाने के मुहूर्त मे हमे निकट की दूरी से सावधान रहने की आवश्यकता है।